भारतीय दर्शन-शास्त्र

न्याय-वैशेषिक

(भारतीय दर्शनशास्त्र का सामान्य परिचय, न्याय-वैशेषिक शास्त्र
की रूपरेखा तथा सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन)

लेखक
अध्यापक धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
तर्कशिरोमणि, एम. ए., एम. ओ. एल.
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, मेरठ कॉलेज

सन् १९५२ ई०

लेनिनग्रेड यूनिवर्सिटी के अध्यापक
दिवङ्गत
प्रोफेसर श्चेरबात्स्की
की
पुण्य स्मृति में

प्राक्कथन

पच्चीस वर्ष से अधिक समय तक एम. ए. के छात्रों को भारतीय-दर्शन के सामान्य और विशेष पत्रों को पढ़ाने के बाद लगातार प्रेरणा हो रही है कि अन्य कामों से अपने को हटाकर भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक इतिहास मातृ-भाषा के चरणों में अर्पण किया जाय। उस इच्छा की पूर्ति में सम्भवतः कुछ देर है। पर एक सुअवसर प्राप्त हो गया।

पिछले वर्ष मेरठ कॉलेज के एम. ए. के छात्रों को न्याय-शास्त्र का विशेष पत्र लेने के लिये प्रोत्साहित किया गया। उस पत्र के तीन ग्रन्थ थे :— न्यायवात्स्यायनभाष्य, धर्मकीर्त्ति का न्यायबिन्दु और न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्राचीन न्याय का ग्रन्थ होते हुये भी नव्यन्याय की जटिल प्रक्रिया से परिपूर्ण है। छात्र घबराने लगे, उन्हें क्लास में आवश्यक नोट लिखाने आरम्भ किये गये। फिर यह ध्यान आया कि क्यों न इस जटिल ग्रन्थ की विशद व्याख्या हिन्दी में प्रकाशित की जाय। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली न केवल न्याय-वैशेषिक अपितु भारतीय-दर्शन-शास्त्र का द्वार है। उसका भारतीय-दर्शन में वही स्थान है जो व्याकरण में सिद्धान्तकौमुदी का। संस्कृत ग्रन्थों के विख्यात प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास फर्म के अध्यक्ष श्री सुन्दरलाल जी ने यह व्यवस्था की कि क्लास के अध्यापन के साथ-साथ पुस्तक छपती जावे। न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली का प्रत्यक्ष खण्ड हिन्दी व्याख्या सहित इस ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित किया जा रहा है[1]। यों तो यह भाग 'प्रत्यक्ष खण्ड' कहलाता है परन्तु वह भ्रमपूर्ण है, क्योंकि प्रत्यक्ष निरूपण तो उसके केवल

---

1 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली हिन्दी अनुवाद व्याख्या (प्रत्यक्षखण्ड), प्रो० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री रचित, मूल्य ५), प्रकाशक मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपड़ा, बनारस।

अन्तिम भाग में है। प्रारम्भ की पदार्थ-प्रस्तावना में न्याय-वैशेषिक का लगभग सारा ही विषय संक्षिप्त रूप से आ जाता है।

परन्तु न्याय-वैशेषिक का मर्म समझने के लिये यह भी आवश्यक है कि सारे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय की रूपरेखा को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय, और न्याय-वैशेषिक के इतिहास और सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाय। इसीलिये न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की व्याख्या के साथ-साथ सामान्य रूप से भारतीय दर्शनशास्त्र और विशेष रूप से न्याय-वैशेषिक शास्त्र की भूमिका के रूप में इस ग्रन्थ का प्रकाशन आवश्यक समझा गया।

अङ्गरेज़ी और हिन्दी में भारतीय दर्शन-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अङ्गरेज़ी में प्रकाशित हुये कतिपय ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें यद्यपि वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों का निरूपण बहुत ठीक हुआ है, तथापि उनमें से अधिकांश में बौद्ध दर्शन का निरूपण पिछले दिनों की दूषित भारतीय परम्परा पर आश्रित सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार हुआ जो कि कई अंशों में भ्रमपूर्ण है, जैसा कि वर्तमान पुस्तक में कई स्थलों पर दिखाया गया है। हिन्दी में जो दर्शन-शास्त्र पर ग्रन्थ निकले हैं वे या तो अङ्गरेज़ी के किसी ग्रन्थ के अनुवाद मात्र हैं, और यदि अनुवाद नहीं तो भी प्रायः अङ्गरेज़ी में लिखे ग्रन्थों पर आश्रित हैं। इसलिये स्पष्ट रूप से वे उतने अधिक उपयोगी नहीं हो सकते।

साथ ही इस प्रकार के ग्रन्थ प्रायः बड़े आकार के हैं। दार्शनिक क्षेत्र में बहुधा यह देखा जाता है कि विस्तार करने की अपेक्षा थोड़े शब्दों में किसी बात को अधिक सुगम रीति से समझाया जा सकता है, न्याय-वैशेषिक के इतिहास और सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन है, परन्तु भारतीय दर्शन की रूपरेखा बहुत संक्षिप्त रूप में विद्यमान है, परन्तु फिर भी वह केवल प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये हो, ऐसा नहीं है, प्रत्युत आलोचनात्मक है।

यह पुस्तक लेनिनग्रेड यूनिवर्सिटी के दिवङ्गत प्रोफेसर श्चेरबात्स्की को समर्पित की गयी है। श्चेरबात्स्की को आधुनिक युग का बौद्ध दर्शन का सर्व-श्रेष्ठ विद्वान् कहा जा सकता है। आधुनिक युग में दिङ्नाग सम्प्रदाय का स्वरूप प्रकाशित करना उन्हीं का काम है। साथ ही उनके ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय-वैशेषिक के आधार-ग्रन्थों— वात्स्यायन भाष्य, वार्त्तिक, तात्पर्य टीका, कन्दली, न्यायमञ्जरी, आदि— का उन्होंने जैसा सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन किया वैसा अध्ययन किसी भी अन्य भारतीय या पाश्चात्य विद्वान् ने पिछले दो सौ या तीन सौ वर्षों में किया हो, उसका कोई प्रमाण नहीं है। भारतीय दर्शन इस महान् रूसी विद्वान् का अत्यन्त ऋणी है। फर्वरी १९५३ के मॉर्डन रिव्यू (कलकत्ता) में श्चेरबात्स्की की भारतीय दर्शन को देन (Contribution of Stcherbatsky to Indian Philosophy) विषय पर मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ है। मुझे न्याय-वैशेषिक का मर्म समझने में किसी ग्रन्थ से, किसी भी गुरु से या किसी भी सहयोगी से उतनी सहायता नहीं मिली जितनी श्चेरबात्स्की के लेखों से।

कोई छोटा सा भी कार्य न जाने कितने व्यक्तियों के सहयोग से सम्पन्न होता है। भारतीय दर्शन के आलोचनात्मक अध्ययन में आदरणीय महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज तथा आदरणीय आचार्य नरेन्द्रदेव जी वाइस-चांसलर बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से मुझे बहुमूल्य स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त हुई है। सहयोगियों में डाक्टर टी. आर. वी. मूर्ति डी. लिट. प्रोफेसर भारतीय दर्शन हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, श्री प० पद्मप्रसाद जी भटराई न्यायाचार्य प्रधानाध्यापक संस्कृत महाविद्यालय काठमाण्डू नेपाल, तथा प० विभूतिभूषण भट्टाचार्य न्यायाचार्य सरस्वती भवन के नाम उल्लेख करने योग्य हैं, जिनके साथ बैठकर अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का संयुक्त अध्ययन और अनेक दार्शनिक विषयों पर विवेचन करने का अवसर मिला।

मेरे प्राचीन छात्र तथा वर्तमान सहाध्यापक प्रो० शिवराज शास्त्री एम. ए. के लगातार परिश्रम और सहयोग के विना इस ग्रन्थ का तैयार होना सम्भव ही न था।

हिन्दी में अभी तक नामानुक्रमणी (Index) देने की प्रणाली बहुत कम प्रचलित है। परन्तु किसी भी विषय को भली भाँति समझने के लिये, उसका तुलनात्मक और आलोचनात्मक विवेचन करने के लिये, यह अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये ग्रन्थ के अन्त में विस्तृत नामानुक्रमणी दी गयी है जो बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

मेरठ कॉलेज
२२/६/५३

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

विषय-सूची

I

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय

II

न्याय-वैशेषिक का इतिहास

III

न्याय-वैशेषिक का दर्शन-सिद्धान्त

शुद्धिपत्र

शुद्धिपत्र पुस्तक के अन्त में दिया गया है। पुस्तक आरम्भ करने से पूर्व पाठक को अपनी पुस्तक की सारी अशुद्धियों को शुद्ध कर लेना चाहिये।

ग्रन्थनिर्देशिका (Bibliography)

भारतीय दर्शन के सारे ग्रन्थों की, यहाँ तक कि मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की भी सूची देना यहाँ न तो सम्भव ही है और न अपेक्षित ही। केवल (i) सामान्य रूप से भारतीय दर्शन पर प्रकाश डालने वाले, तथा (ii) वेदान्त आदि वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के एक दो प्रकरणग्रन्थ (manuals), जिनसे पदार्थों का साधारण ज्ञान हो जाता है, और (iii) बौद्ध दर्शन जिसका विशेष रूप से इस ग्रन्थ में समावेश किया गया है, उसके आवश्यक ग्रन्थों की, (iv) न्याय-वैशेषिक जिससे इस पुस्तक का विशेष सम्बन्ध है, के आधार-भूत ग्रन्थों की, तथा (v) पूर्वमीमांसा के उन ग्रन्थों की जिनका विषय न्याय-वैशेषिक से मिलता जुलता और दार्शनिक है, की सूची यहाँ दी गई है।

(I) सामान्य भारतीय दर्शन

(१) हरिभद्र : षड्दर्शनसमुच्चय ; विशेषकर उस पर गुणरत्न-कृत टीका।

(२) माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह।

(३) श्री राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलासफ़ी।

(४) श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : इण्डियन फ़िलासफ़ी।

(५) डा० जदुनाथ सिन्हा : हिस्टरी ऑफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी[1], जिल्द द्वितीय।

(II) वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय

(१) वेदान्त परिभाषा, वेदान्तसार।

(२) मीमांसान्यायप्रकाश, अर्थसंग्रह।

---

[1]अभी हाल में सेन्ट्रल बुक एजेन्सी, १४, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुई है।

(३) सांख्यतत्त्वकौमुदी ।

(४) योगसूत्रव्यासभाष्य या योगसूत्र भोजराजवृत्ति ।

(III) बौद्ध दर्शन

(१) श्चेरबात्स्की : सेण्ट्रल कंसेप्शन् ऑफ़ बुद्धिज्म

(२) ,, : बुद्धिस्ट निर्वाण

(३) ,, : बुद्धिस्ट लॉजिक, दो जिल्दों में

(४) सत्करी मुकर्जी : यूनिवर्सल फ़्लक्स

(५) टी० आर० वी० मूर्त्ति : माध्यमिक डाइलेक्टिक[2]

(६) विधुशेखर भट्टाचार्य : दी बेसिक कंसेप्शन् ऑफ़ बुद्धिज्म

(७) वसुबन्धु : अभिधर्मकोष ।

(८) वसुबन्धु : विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ।

(९) दिङ्नाग : आलम्बनपरीक्षा ।

(१०) नागार्जुन : मूलमाध्यमिककारिका ।

(११) दिङ्नाग : प्रमाणसमुच्चय ।

(१२) धर्मकीर्ति : प्रमाणवार्त्तिक ।

(१३) ,, : न्यायविन्दु धर्मोत्तर टीकासहित ।

(१४) सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स् ।

(१५) शान्तरक्षित : तत्त्वसंग्रह ।

बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ प्रायः अप्राप्य हैं। इनके संपादन और प्रकाशन का विवरण इस पुस्तक के अन्दर दिया गया है। और उसको नामानुक्रमणी

---

[2] यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ, परन्तु दो तीन मास में छपने वाला है। इसके विषय में उसके रचयिता डा० टी० आर० वी० मूर्त्ति हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस से पूछा जा सकता है।

(Index) के द्वारा ढूँढा जा सकता है।

(IV) *न्याय-वैशेषिक*

(१) न्यायवात्स्यायनभाष्य।

(२) उद्योतकर : न्यायवार्त्तिक।

(३) वाचस्पति मिश्र : न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।

(४) जयन्त : न्यायमञ्जरी।

(५) श्रीधर : कन्दली।

(६) उदयनाचार्य : किरणावली।

(७) भासर्वज्ञ : न्यायसार।

(८) शिवादित्य : सप्तपदार्थी।

(९) केशवमिश्र : तर्कभाषा।

(१०) विश्वनाथ : न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।

(११) अन्नम्भट्ट : तर्कसंग्रह।

(V) *पूर्वमीमांसा*

पूर्वमीमांसा का प्रतिपाद्य विषय ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड-सम्बन्धी वाक्यों का विवेचन और समन्वय है। उससे सम्बन्ध रखने वाले एक दो प्रकरण ग्रन्थ वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अन्तर्गत दिखा दिये हैं, परन्तु पूर्वमीमांसा के दोनों सम्प्रदायों ने उन दार्शनिक विषयों का भी विवेचन किया, जिन पर बौद्ध और न्याय-वैशेषिक का संघर्ष हुआ था, उनका अध्ययन न्याय-वैशेषिक के साथ साथ ही आवश्यक और अपेक्षित है, उन कतिपय आधार ग्रन्थों की सूची दी जाती है :—

(१) कुमारिल सम्प्रदाय :—

कुमारिल : श्लोक वार्त्तिक।

पार्थसारथि मिश्र : शास्त्रदीपिका ।

मण्डन मिश्र : विधि-विवेक, वाचस्पति मिश्र की न्यायकणिका नामक टीका ।

(२) प्रभाकर सम्प्रदाय :—

प्रभाकर : बृहती ।

शालिकनाथ : ऋजुविमला ।

डा० गंगानाथ झा : प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्वमीमांसा ।

———

1

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय

१. भारतीय दर्शन का मूल स्रोत—ऋग्वेद

भारतीय संस्कृति का मूलस्रोत ऋग्वेद में पाया जाता है। संस्कृति के प्रत्येक पहलू का उद्गम और आदि स्वरूप हमें इस वेद में मिलता है। जबकि संस्कृति के सारे तत्त्वों का बीज ऋग्वेद में विद्यमान है, तो यह स्वाभाविक ही है कि दर्शन शास्त्र का बीज भी ऋग्वेद में मिले। प्रकृति के अलौकिक और सजीव चमत्कार को देखकर ऋग्वेद की काव्यधारा फूट पड़ी, जहां ऋग्वेद में एक ओर सौन्दर्यमय कला है, वहां दूसरी ओर प्रकृति के पीछे छिपी हुई अलौकिक दिव्य शक्ति का आवाहन भी है। मानव हृदय की भावुकता भरी इन भावनाओं के बीच मानव मस्तिष्क की प्रवृत्ति दर्शन शास्त्र की समस्याओं के प्रति भी स्वभावतः जाग्रत् हुई थी। भारतीय दार्शनिक प्रवृत्तियों का मूल हमें स्पष्टतः ऋग्वेद में मिलता है।

दर्शन शास्त्र का मूल 'सन्देह' की भावना में पाया जाता है। वैदिक ऋषि प्रकृति की जिन दिव्य शक्तियों का आवाहन करते थे, उनके विषय में 'संशय' की भावना भी ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से मिलती है। ऋग्वेद का 'इन्द्र' मुख्यतम देव है, उसके विषय में भी सन्देह उठाया गया है कि 'इन्द्र' कहीं नहीं है किसने उसको देखा है, किस लिए, हम उसकी स्तुति करते हैं[1] ?" इस प्रकार देवताओं के स्वरूप के विषय में संशय करते

1. ऋग्वेद ८।१००।३

हुये वैदिक ऋषि अन्ततः इस तथ्य पर पहुंचे कि इन्द्र, वरुण मित्र आदि अनेक देव एक ही शक्ति के अनेक स्वरूप और अनेक नाम हैं। उन्होंने घोषणा की थी कि "एक ही तत्त्व को अनेक नामों से कहते हैं"[1]। इस प्रकार एकेश्वरवाद (Monotheism) का तत्त्व ऋग्वेद में विद्यमान है। उपनिषद् और वेदान्त के इस मूल सिद्धान्त का कि "एक ही ब्रह्म सारे विश्व में व्याप्त है अथवा सारा विश्व ही ब्रह्म रूप है" मूल बीज ऋग्वेद में स्पष्टरूप से विद्यमान है क्योंकि "पुरुषसूक्त" में स्पष्ट रूप से आया है कि "यह सब पुरुष ही है"[2]। इसी प्रकार ऋग्वेद के "नासदीयसूक्त" में, जिसका प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि "उस समय न असत् था और न सत्"[3] एक गम्भीर और सूक्ष्म दार्शनिक प्रवृत्ति पायी जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद में प्रकृति के अटल नियमों (inexorable laws) के रूप में "ऋत" का विचार पाया जाता है, जिस में वैज्ञानिक नियमों (scientific laws) का मूल स्वरूप स्पष्ट विद्यमान है। इस प्रकार ऋग्वेद में दार्शनिक प्रवृत्तिओं का मूल पाया जाता है।

२—उपनिषदों का ब्रह्मवाद

ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद और सामवेद का सम्बन्ध यज्ञ सम्बन्धी प्रक्रियाओं से है। उनमें कोई दार्शनिक तत्त्व नहीं है। परन्तु अथर्ववेद में, जिसका सम्बन्ध, पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जादू और चिकित्सा से है, अनेक दार्शनिक विचारों से युक्त सूक्त पाये जाते हैं, परन्तु इन दार्शनिक सूक्तों में ऋग्वेद के समान ही दार्शनिक तत्त्व हैं या नहीं इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। यजुर्वेद की यज्ञ-प्रक्रिया का विकास ब्राह्मण ग्रन्थों

1. *एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ऋग्वेद १।१६४।४६*
2. *पुरुष एवेदं सर्वम्। ऋग्वेद १०।९०।२।*
3. *नासदासीत्, नोसदासीत्तदानीम् (ऋग्वेद १०।१२९।१)*

में हुआ, जिन में अनेक बड़े २ यज्ञों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भाग आरण्यक नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है इन आरण्यकों की रचना उन विचारकों द्वारा हुई जो यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड से उदासीन होकर अरण्य (जंगल) में जाकर जीवन के तत्त्वों पर विचार करते थे। यह विचार धारा यद्यपि बहुत अंश तक यज्ञ के विषय में ही है, जिस में यज्ञ के अनुष्ठान सम्बन्धी अंश को छोड़ कर उसको विश्व की अनेक घटनाओं का प्रतीक (symbol) मानकर तरह तरह की कल्पनायें की गई हैं। परन्तु इन्हीं आरण्यकों के कुछ भाग "दार्शनिक काव्यों" (philosophical-poems) के रूप में है जो कि उपनिषद् कहलाते हैं, उपनिषद् शब्द का अर्थ है 'पास में बैठकर बताया जाने वाला रहस्य', (उप=पास, नि+षद् =बैठना) अर्थात् जो दार्शनिक तत्त्व ज्ञानी अपने शिष्यों को सिखाएं।

ऋग्वेद में दिखाई देने वाली भारतीय दार्शनिक प्रतिभा का पूर्ण विकास उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों के विषय में बहुधा यह भ्रमपूर्ण धारणा की जाती है कि वे जीवन के निराशामय पहलू (Pessimism) के द्योतक हैं, परन्तु उपनिषदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे आनन्दमय जीवन की दार्शनिक भावना से ओतप्रोत है। परन्तु यह आनन्द भौतिक और ऐन्द्रियिक नहीं, प्रत्युत अलौकिक और आध्यात्मिक है। अतएव न केवल भारतीय वैदिक संस्कृति पर उपनिषदों का प्रभाव पड़ा प्रत्युत मुस्लिम जगत् में सूफी सिद्धान्त के रहस्यवादियों ने उपनिषदों से ही स्फूर्ति प्राप्त की थी। आधुनिक समय में भी प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शैलिङ्ग (Schelling) और विशेषकर शोपनहार (Schopenhauer) उपनिषदों से बहुत अधिक प्रभावित हुए। शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में कराया था। इसी फारसी अनुवाद का, जो कि बहुत शुद्ध अनुवाद नहीं कहा जा सकता, लैटिन

भाषा में अनुवाद फ्रेंच विद्वान् ऐंकेटिल डू पेरन् (Anquetil du Peron) ने किया था। यही अनुवाद शेलिंग, और शोपनहार तक पहुँचा। इस अपूर्ण लैटिन् अनुवाद को पढ़कर शोपनहार इतना प्रभावित हुआ कि उसने कहा, "उपनिषद् सर्वोच्च मानवीय ज्ञान और प्रतिभा के फल हैं" (fruit of the highest knowledge and wisdom)। और उपनिषदों के अन्दर ऐसे दार्शनिक तत्त्व हैं जो मानव की पहुंच से परे हैं। और शोपनहार ने कहा, "उपनिषद् ने मेरे जीवन को शान्ति और सान्त्वना दी है, और वही मेरी मृत्यु के समय शान्ति और सान्त्वना देंगे" ("It has been the solace of my life, and it will be the solace of my death.")[1]

उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त क्या है ? ऋग्वेद के ऋषि जिस अलौकिक दिव्य तत्त्व को ढूंढ रहे थे, उसे उपनिषद् के ऋषियों ने साक्षात् कर लिया, ऐसा प्रतीत होता है। उपनिषदों ने अनेक रूपों में, काव्यमयी और कलात्मक भाषा में इस तत्त्व का प्रतिपादन किया है कि यह सारा विश्व एक अलौकिक अव्यक्त शक्ति ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में इस विश्व के परिवर्तनशील आकार, नाम और रूप को छोड़कर उसका यथार्थ तत्त्व ब्रह्म ही है, और वही ब्रह्म प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा के स्वरूप में है। मानव के उत्कर्ष की कल्पना यहां चरम सीमा तक पहुंच जाती है, क्योंकि मानव की आत्मा ही इस विश्व का सर्वोपरि यथार्थ तत्त्व है, उपनिषदों ने जिस सजीव भाषा में, जिस विश्वास की दृढ़ता के साथ और जिस रहस्य को साक्षात् करने वाली अनुभूति के साथ इस तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वह एक साथ ही हृदय और मस्तिष्क दोनों को प्रभावित करती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया उपनिषद् की भाषा और भावना

---

1. Winternitz : Indian Literature vol. I, P. 266—67.

काव्यमय है। उनका उद्गम साक्षात् अन्तर्ज्ञान (intuition) से हुआ प्रतीत होता है। पीछे यही सिद्धान्त दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में भी प्रस्तुत किये गये, और उस दर्शन को 'वेदान्त' कहा गया। वेदान्त शब्द उपनिषदों के लिए भी आता है, क्योंकि वे श्रुति रूप से माने जाने वाले वेद भाग के अन्त अर्थात् अन्तिम ग्रन्थ हैं और यों भी वैदिक ज्ञान का अन्तिम निष्कर्ष उपनिषदों का ब्रह्मवाद है, इस लिये भी उपनिषदों को 'वेद का अन्त' अर्थात् 'वेदान्त' कहा जाता है।

३—यज्ञ-प्रक्रिया के क्षेत्र में 'दर्शन' शास्त्र का विकास

उपनिषदों के सिद्धान्तों को लेकर जिस प्रकार वेदान्त शास्त्र का जिसे 'उत्तरमीमांसा' भी कहते हैं, प्रारम्भ हुआ है, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य यज्ञ सम्बन्धी विषयों की और विशेषकर ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों की सङ्गति और समन्वय के लिए एक दार्शनिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जिसको 'मीमांसा' या 'पूर्वमीमांसा' कहते हैं, वेद के *पूर्व-भाग* अथवा कर्मकाण्ड सम्बन्धी भाग से सम्बद्ध शास्त्र का नाम *'पूर्वमीमांसा'* और वेद के *उत्तर भाग* या ज्ञान काण्ड से सम्बद्ध शास्त्र का नाम *'उत्तर मीमांसा'* है, इस प्रकार वेदों के अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि ब्राह्मणों के, पहले और पिछले भागों से सम्बन्ध रखने के कारण ये दोनों शास्त्र 'पूर्व' और 'उत्तर' मीमांसा कहलाते हैं, मानों वे दोनों एक ही शास्त्र के पहले और पिछले दो भाग हों, परन्तु यह स्पष्ट है कि इन दोनों शास्त्रों के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर कोई समता या सङ्गति नहीं है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा।

जहां तक मीमांसा शास्त्र का सम्बन्ध है, उसमें केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्म काण्ड का निरूपण है। साथ ही ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों का समन्वय और सङ्गति करने के लिये, 'वाक्य के तात्पर्य का विवेचन करने

वाले' एक नये विज्ञान की, जिसे हम *"वाक्य विज्ञान"* कह सकते हैं, स्थापना की गयी है, मीमांसा में जो कुछ दार्शनिक तत्त्व हैं, वह पिछले युग के 'मीमांसा शास्त्र' के आचार्य *कुमारिल* और *'प्रभाकर'* की देन है, जिनका जन्म सम्भवतः ८ वीं शताब्दी में हुआ। वैदिक दर्शनों में वेदान्त तो साक्षाद्रूपेण उपनिषदों के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाला दर्शन है ही, और 'सांख्य' तथा 'योग' भी उपनिषदों पर ही आश्रित दर्शन हैं। मीमांसा-दर्शन ब्राह्मणों के यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता ही है। शेष दो वैदिक दर्शन 'न्याय' और 'वैशेषिक' रह जाते हैं। उनका सम्बन्ध न तो उपनिषदों से ही है और न किसी प्रकार ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड से ही प्रतीत होता है। यह स्पष्ट है कि उपनिषदों का सिद्धान्त कि 'जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और ब्रह्म को छोड़कर उसकी कोई यथार्थता नहीं', यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का विरोधी है।

यज्ञ के द्वारा स्वर्ग और अनेक उच्च लोकों की प्राप्ति बताई गई थी, और उन स्वर्गादि लोकों में अनेक प्रकार के भोग साधन प्राप्त करना ही यज्ञ का उद्देश्य था। यह स्पष्ट है कि उपनिषदों का 'ब्रह्मवाद' और उस पर आश्रित 'बाह्य-जगत् की असत्यता' यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड की जड़ को हिलाने वाली थी। यज्ञ की सफलता और कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विश्वास की दृढ़ता के लिए यह आवश्यक था कि बाह्य जगत् की यथार्थता स्थापित की जाए। बाह्य जगत् की यथार्थता दार्शनिक रूप से सिद्ध करने के लिए यज्ञ-प्रक्रिया के क्षेत्र में या पूर्वमीमांसा दर्शन के क्षेत्र में क्या कोई प्रयत्न किया गया, यह विचारणीय है। यह विदित है कि प्राचीनकाल में अनेक प्रकार के विज्ञानों का उद्गम यज्ञ-प्रक्रिया के क्षेत्र में हुआ था।

यज्ञ में उच्चारण की शुद्धि के लिये 'शिक्षा विज्ञान' (Phonetics) का प्रारम्भ हुआ, यज्ञ-सम्बन्धी वाक्यों के परिवर्तन करने में कोई अशुद्धि

न हो, इसके लिए 'व्याकरण विज्ञान' का जन्म हुआ, यज्ञ की तिथि को पहले से ठीक ठीक निश्चय करने के लिए 'ज्योतिष' का प्रारम्भ हुआ, यज्ञ की वेदी को नापकर ठीक ठीक बनाने की दृष्टि से 'शुल्व सूत्रों में' 'रेखा-गणित' के प्रारम्भिक सिद्धान्त स्थापित किये गये, यज्ञ प्रक्रिया के सहायक इन अनेक विज्ञानों के साथ क्या यह आवश्यक न था कि बाह्य जगत् का यथार्थ स्वरूप स्थापित करने के लिये कोई दार्शनिक प्रक्रिया स्थापित की जाए ? ऊपर कहा गया है कि 'न्याय' और 'वैशेषिक' शास्त्र का उपनिषदों के सिद्धान्तों या ब्राह्मणों के कर्म काण्ड से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। परन्तु वे "वैदिक दर्शन" कहलाते हैं। वेदों से उनका सम्बन्ध किस प्रकार है, यह एक प्रश्न है। यद्यपि भारतीय दर्शन सम्बन्धी अनुसंधान करने वालों का ध्यान इस ओर नहीं गया, परन्तु यह प्रतीत होता है कि न्याय और वैशेषिक शास्त्र का उद्गम यज्ञ-प्रक्रिया सम्बन्धी मीमांसा के क्षेत्र में हुआ था। आगे चल कर न्याय और वैशेषिक शास्त्र के इतिहास की विवेचना करते हुए यह दिखाया जायगा कि न्याय और वैशेषिक दोनों शास्त्रों का यद्यपि ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं, तो भी उन दोनों शास्त्रों का पूर्व मीमांसा से एक प्रकार का ऐतिहासिक सम्बन्ध है और साथ ही विचार-सम्बन्धी आन्तरिक सम्बन्ध भी है। वैदिक दर्शनों में पूर्ण-रूप से बाह्यार्थवादी (extreme realist) पूर्व-मीमांसा, न्याय और वैशेषिक ये तीन ही दर्शन हैं, आगे चलकर यह दिखाया, जायगा कि मीमांसा और न्याय दोनों ने ही वैशेषिक की बाह्य जगत् सम्बन्धी द्रव्य, गुण, कर्मादि पदार्थों की कल्पना और कारणवाद को बहुत अंश तक अपनाया।

४—बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद

ऊपर भारतीय दर्शन की दो धाराओं का उल्लेख किया गया है।

एक, उपनिषदों का ब्रह्मवाद या आत्मवाद और दूसरी, बाह्य जगत् के यथार्थ स्वरूप को स्थापित करने वाली वैशेषिक की दार्शनिक प्रक्रिया, जिसको पूर्वमीमांसा एवं न्याय ने भी स्वीकार किया और जिसका उपनिषदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन दोनों धाराओं से न केवल भिन्न प्रत्युत उनसे सर्वथा विपरीत एक दार्शनिक धारा बौद्धों की है, जिसका मूल तत्त्व 'अनात्मवाद' है। वह *अनात्मवाद* जितना विरोधी उपनिषदों के '*आत्मवाद*' का है, उतना ही विरोधी वैशेषिक के '*द्रव्यवाद*' का भी है। अनात्मवाद बौद्ध दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त है कि 'सर्वं दुःखम्' अर्थात् सब कुछ दुःखमय है, उसी प्रकार उसी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा यह भी सिद्धान्त है कि "सर्वमनात्मम्" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है वह आत्मा से शून्य है। बौद्धों के अनात्मतत्त्व को ठीक ठीक दार्शनिक रूप में नहीं समझा गया है। बौद्धों के सारे दार्शनिक सम्प्रदाय 'अनात्मवाद' के सिद्धान्त पर ही आश्रित है। यह अनात्मवाद का सिद्धान्त ही बौद्ध दर्शन और वैदिक दर्शन के बीच में विभाजक रेखा (line of demarcation) है। किसी विशेष सिद्धान्त की दृष्टि से कई बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय और कई वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय एक जगह आ जाते हैं और किसी दूसरे सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों धर्मों के कई दार्शनिक सम्प्रदाय परस्पर समान होने से एक और समान कैम्प में चले जाते हैं, उदाहरणार्थ 'थेरावादी' बौद्ध या किसी अंश तक वैभाषिक और न्याय वैशेषिक तथा मीमांसक दोनोंही बाह्यार्थवादी हैं। दूसरी ओर बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय 'योगाचार' और 'शून्यवाद' तथा वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय 'वेदान्त' दोनों ही बाह्यार्थ के विरोधी हैं और वे इस अंश में परस्पर समान हैं। परन्तु वह सिद्धान्त,जिसमें प्रत्येक बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय एक ओर है और प्रत्येक वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय दूसरी ओर, 'अनात्मवाद' का है। अनात्मवाद का क्या अर्थ है?

साधारणतया यह समझा जाता है कि अनात्मवाद का तात्पर्य यह है कि बौद्ध वैदिक दर्शनों के समान ज्ञान धारा के अतिरिक्त इस ज्ञान धारा का आधाररूप कोई स्थिर आत्मा नहीं मानते। परन्तु प्रत्येक वैदिक दर्शन किसी न किसी रूप में स्थिर आत्मा को मानता है।

परन्तु ध्यान देने से पता चलेगा, कि बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद इससे अधिक व्यापक और गम्भीर है। जब यह कहा जाता है, कि "सर्व-मनात्मम्" तो इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जड़ हो चाहे चेतन, वह आत्मा से रहित है। जड़ वस्तु के आत्मा से रहित होने का क्या अर्थ है? बौद्ध के अनुसार बाह्य जगत् में प्रत्येक क्षण परिवर्तन हो रहा है, और कोई वस्तु स्थिर नहीं, अर्थात् किसी वस्तु में समय (time) की दृष्टि से स्थिरता (कुछ देर तक रहना) नहीं हो सकता। इसी प्रकार देश (space) की दृष्टि से भी कोई वस्तु फैली हुई (extended) नहीं, अर्थात् वह देश के एक बिन्दु (point) पर रहने वाले कण या अवयव के रूप में है। कोई भी वस्तु देश के दो बिन्दुओं में रहने वाली, अर्थात् देश की दृष्टि से विस्तार-युक्त नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी या द्रव्य नहीं होता। अतएव "अनात्मवाद" के सिद्धान्त (no-soul theory) का वास्तविक अर्थ है:— "अद्रव्य का सिद्धान्त (no-substance theory)"। "अद्रव्य सिद्धान्त'' का अर्थ यह है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, जो समय की दृष्टि से (temporally) स्थिरता (duration) रखती हो, और देश की दृष्टि से (spatially) विस्तार (extention) रखती हो, यथार्थ तत्त्व (reality) समय की दृष्टि से लम्बाई में (vertically) सब ओर से कटी हुई है, और देश की दृष्टि से चौड़ाई में (horizontally) सब ओर से कटी हुई है। अर्थात् वह एक बिन्दुमात्र है, जिस के कोई अवयव नहीं, अथवा जिसमें अनेक अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी और द्रव्य नहीं। कोई भी बौद्ध

दार्शनिक सम्प्रदाय, चाहे अन्य दृष्टियों से वे एक दूसरे के कितने भी विरुद्ध हों, स्थिर और विस्तारयुक्त द्रव्य को कदापि नहीं मानते, और प्रत्येक वैदिक दर्शन, चाहे वह अद्वैतवादी वेदान्त हो, या प्रकृतिवादी सांख्य, या द्रव्यवादी न्यायवैशेषिक या मीमांसा हो, एक स्थिर व्यापक वस्तु को मानता है। यह ठीक है कि सांख्य और वेदान्त न्याय-वैशेषिक के समान, अवयवों में रहने वाले, परन्तु अवयवों से पृथक् 'अवयवी' स्वरूप द्रव्यों को नहीं मानते, परन्तु फिर भी वेदान्त और सांख्य दोनों ही एक स्थिर आधारभूत वस्तु 'ब्रह्म' अथवा 'प्रकृति' को मानते हैं। जिस में अनेक धर्म मिथ्यारूप से प्रकट होते हुए दिखाई देते हैं, या अनेक प्रकार के धर्म स्थिर वस्तु में विकार या परिवर्तन के रूप में सचमुच ही आते रहते हैं।[1] इस प्रकार इस अर्थ में प्रत्येक वैदिक दर्शन एक या अनेक स्थिर तत्त्वों को मानने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अवयवों में रहने वाला अवयवी या द्रव्य ही उस वस्तु की आत्मा है, जैसे 'तन्तु' रूप अनेक अवयवों में रहने वाला अवयवी 'पट' एक प्रकार से तन्तुओं की आत्मा के समान है, उसी प्रकार जैसे कि ज्ञान की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के रूप में चलती हुई ज्ञान धारा का आधार एक आत्मा है। इसी प्रकार सांख्य के अनुसार बदलते हुए नाना धर्मों या विकारों में स्थिर रूप से रहने वाला एक तत्त्व है, जैसे कुण्डल,

---

1 *वेदान्त के अनुसार स्थिर, नित्य ब्रह्म में जो कि 'अद्वैत' तत्त्व है नाना प्रकार के संसार रूपी प्रपञ्च के धर्म मिथ्या रूप से प्रकट होते से दिखाई देते हैं। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है। अर्थात् वास्तविक परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तन सा दिखाई देना, और सांख्य के अनुसार स्थिर तत्त्व प्रकृति है, जिसमें परिवर्तन वास्तविक होता है और एक स्थिर वस्तु वस्तुतः नाना रूप ग्रहण करती है। इसी को 'विकारवाद' या 'परिणामवाद' कहते हैं।*

कड़ा, अंगूठी आदि नाना रूपों में रहने वाला एक स्थिर तत्त्व सुवर्ण है, जो कि नाना धर्म कुण्डल, कड़ा, अंगूठी आदि में रहने वाले स्थिर आत्मा के समान है। और वेदान्त के अनुसार इस विश्वरूपी प्रपञ्च के सारे पदार्थ मिथ्या-रूप से एक अद्वैत तत्त्व 'ब्रह्म' में प्रकट होते हैं, जोकि एकमात्र सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण काल में रहने वाला नित्य और स्थिर पदार्थ है। वह ब्रह्म ही सारे विश्व की आत्मा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध का अनात्मवाद केवल ज्ञानों की धारा में अथवा दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्राणी में रहने वाली स्थिर आत्मा का ही निषेध नहीं है प्रत्युत वह न्याय-वैशेषिक में माने गये अवयवों में रहने वाले अवयवी या द्रव्य का भी निषेध है और सांख्य में माने गये सारे विकारों में रहने वाले स्थिर तत्त्व का भी, और वेदान्त में माने गए एक अद्वैत तत्त्व का भी निषेध है। अतएव जहां वैदिक दर्शनों का मूल तत्त्व 'आत्मवाद' है, वहां बौद्ध दर्शन का मूल मन्त्र 'अनात्मवाद' है। यही अनात्मवाद का सिद्धान्त, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बौद्ध दर्शन और वैदिक दर्शनों के बीच में एक विभाजक रेखा है।

६ *बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदायों का विभाग*

वैदिक दर्शन को मानने वाले ग्रन्थकारों के द्वारा भारतीय दर्शन के विभाजन में जहां एक ओर वेदान्त, सांख्य, न्याय आदि अनेक वैदिक दर्शन गिनाए गए हैं वहां दूसरी ओर 'बौद्ध दर्शन' को केवल एक दर्शन मानकर बौद्धों के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय उसी के अन्तर्गत दिखा दिये जाते हैं। यह शैली सर्वथा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि वास्तविक बात यह है कि बौद्धों के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय एक दूसरे से उतने ही पृथक् हैं, जितने कि वेदान्त, सांख्य, न्याय आदि वैदिक सम्प्रदाय। सारे बौद्ध सम्प्रदायों को एक जगह दिखाने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि

उनके पृथक् पृथक् साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को सामान्यरूपेण बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत समझ लिया जाता है। जिससे उन सिद्धान्तों के विषय में बहुत अधिक परस्पर गड़बड़ (confusion) हो जाती है। इसका स्पष्ट उदाहरण माधवाचार्य कृत सर्वदर्शनसंग्रह में मिलता है। बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत इस ग्रन्थ में जो कुछ भी लिखा गया है, उसमें कई अनेक दृष्टियों से दोष और भ्रम के साथ साथ यह भी एक बड़ी त्रुटि है, कि सम्प्रदाय विशेष के सिद्धान्त बौद्धों के सामान्य सिद्धान्तों के रूप में दे दिये हैं। वस्तुतः यह आवश्यक है कि बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदायों को वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के समान ही एक दूसरे से पृथक् पृथक् रक्खा जावे। बौद्धों के मुख्य मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय कौन कौन से हैं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

'सर्वदर्शनसंग्रह' में जो कि १४वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, जब कि बौद्ध दर्शनों के स्वरूप को भारत के वैदिक-दर्शन-सम्प्रदाय के लोग भूल चुके थे, बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय और उससे पहले वैदिक क्षेत्र के दार्शनिक इन चार सम्प्रदायों को ही समझते थे। १४वीं शताब्दी से कुछ पहले से लेकर बाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थों में इन चार बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन है। परन्तु बौद्धों के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन को इन चार सम्प्रदायों में बांटा गया हो, ऐसा नहीं मिलता। आश्चर्य की बात तो यह है कि आधुनिक समय के पाश्चात्य लेखक या पाश्चात्यशैली के भारतीय लेखक, जिन्होंने भारतीय दर्शन के इतिहास आदि लिखे हैं, 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अनुसार इन्हीं चार बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन करते हैं, मानों कि बौद्ध दर्शन का इन चार सम्प्रदायों में विभाजन सर्वथा प्रामाणिक बात हो। आधुनिक समय में जब कि बौद्ध दर्शन के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, यह आशा की जा सकती है

कि परम्परा के अनुसार बौद्ध दर्शन को इन चार सम्प्रदायों में विभाजित न करके वास्तविकता को देखा जाय।

८— बौद्धों के तथा कथित दार्शनिक सम्प्रदाय

सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार बौद्धों के निम्नलिखित चार दार्शनिक सम्प्रदाय हैं :—

(१) वैभाषिक
(२) सौत्रान्तिक
(३) योगाचार
(४) माध्यमिक

इन में से पहले दोनों बाह्यार्थवादी (realist) माने जाते हैं, उनका भेद 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अनुसार यह है कि वैभाषिक बाह्यवस्तु का प्रत्यक्ष मानते हैं; परन्तु सौत्रान्तिक बाह्यवस्तु को अनुमेय मानते हैं। सौत्रान्तिक का सिद्धान्त जैसा कि वह 'सर्वदर्शनसंग्रह' में दिया हुआ है, बहुत अंश तक पाश्चात्य दार्शनिक लॉक (Locke) की बाह्य-वस्तु-आकार-समान-ज्ञान-वाद (representationist theory) के समान है। अर्थात् संसार के बाह्यपदार्थ बाह्य अस्तित्व रखते हैं परन्तु हम उनका साक्षात् ग्रहण नहीं करते। जो आकार हम ग्रहण करते हैं वह आकार तो हमारे ज्ञान का ही है किन्तु ज्ञान में वह आकार बाह्य-वस्तु ने अपने आकार के समान ही उत्पन्न किया है। इस लिये अपने ज्ञान के आकार से हम उसी तरह के आकारवाली बाह्यवस्तु का अनुमान कर लेते हैं। बाह्यवस्तु को हम साक्षात् रूप से कभी ग्रहण नहीं कर सकते, प्रत्युत सदैव उसे अनुमान द्वारा ही जानते हैं। लॉक का सिद्धान्त लगभग यही है और 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अनुसार सौत्रान्तिक का भी यही सिद्धान्त है। सौत्रान्तिक के सिद्धान्त को 'नित्यानुमेय

बाह्यार्थवाद'[1] या 'साकार ज्ञानवाद'[2] भी कहते हैं। परन्तु यहां यह कह देना आवश्यक है कि वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का निरूपण, जैसा कि 'सर्वदर्शनसंग्रह' में किया गया है, वह अनेक दृष्टियों से दोषयुक्त और भ्रमपूर्ण है।

'योगाचार' ज्ञानवादी (idealist) है, जिसका सिद्धान्त बहुत अंश तक पाश्चात्य दार्शनिक 'बार्कले' (Berkeley) के सिद्धान्त के समान है। जहाँ तक इस सम्प्रदाय का प्रश्न है, 'सर्वदर्शनसंग्रह' का वर्णन लगभग ठीक ही है। 'योगाचार' के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण आगे किया जायगा। चौथा दार्शनिक सम्प्रदाय 'माध्यमिक या शून्यवादी' है। इसका निरूपण भी, गम्भोर तत्त्व दृष्टि में जाने की बात छोड़कर, ऊपरी तौर पर 'सर्वदर्शनसंग्रह' में ठीक ही किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन की पिछली शताब्दियों में अर्थात् १४ वीं शताब्दी के कुछ पहले से बाद के समय तक वेदान्त के सिद्धान्तों के अध्ययन के साथ साथ 'योगाचार और माध्यमिक' के सिद्धान्तों को बहुत अंश तक वैदिक दर्शनों का अध्ययन करने वाले समझते थे परन्तु वैभाषिक और सौत्रान्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों के विषय में उनको उतनी जानकारी नहीं थी। इसलिये उपर्युक्त दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का 'सर्वदर्शन-संग्रह' में किया हुआ निरूपण, जैसा कि ऊपर कहा गया, बहुत अंश तक भ्रमपूर्ण है।

परन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्ध दर्शन के निरूपण में जो मौलिक दोष है वह यह है कि सारे बौद्ध दर्शन का चार सम्प्रदायों में विभाजन

---

1. *देखो न्यायमञ्जरी (चौखम्बा) पृष्ठ १५, "नित्यानुमेयबाह्यार्थवादी ज्ञानं क दृष्टवान्।"*

2. *वहीं पृष्ठ १५, "अर्थस्तु साकारज्ञानवादिनो न समस्त्येव।" और तर्क भाषा (बम्बई संस्कृत सीरीज़) पृष्ठ ७६, "साकारज्ञानवादनिराकरणात्।"*

किया गया है, जिसके लिये कोई बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों का आधार प्रतीत नहीं होता। वर्तमान लेखक का जहां तक बौद्ध दर्शन के मूलग्रन्थों या तत्सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन है, उसमें कहीं भी बौद्ध दर्शन को निश्चित रूप से इन चार सम्प्रदायों में बांटा गया हो, ऐसा नहीं मिलता। यह ठीक है कि बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत ये चार सम्प्रदाय थे, परन्तु केवल ये चार ही विशेष रूप से बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय हों और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का उस प्रकार का पारस्परिक तारतम्य हो, जैसा 'सर्वदर्शनसंग्रह' में दिया गया है, यह बात कम से कम बौद्ध दार्शनिक साहित्य पर आश्रित प्रतीत नहीं होती।

८—बौद्ध दर्शन का विस्तार और महत्त्व

अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने बौद्ध दर्शन के अध्ययन में महान् प्रयत्न किये हैं, जिसके फलस्वरूप बौद्ध दर्शन के विषय में पहले की अपेक्षा इस समय हमारी जानकारी बहुत बढ़ गई है। इन विद्वानों में से बर्नफ़, रीज़डैविड्स, श्रीमती रीज़डैविड्स, सिलवेन लेवी, डी ला वाली पूसिन्, श्चेरवात्स्की, टूची, विधुशेखर भट्टाचार्य, राहुल सांकृत्यायन आदि के नाम विशेष कर उल्लेखनीय हैं। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये, कि बौद्ध दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में इतना कार्य होने पर भी उसके विषय में हमारा ज्ञान कई दृष्टियों से प्रारम्भिक अवस्था में ही है। उपर्युक्त कतिपय मौलिक अनुसन्धान-कर्ताओं के ग्रन्थों को छोड़ कर यूरोपीय भाषाओं, विशेषतः, अंग्रेजी या भारतीय आधुनिक भाषाओं में बौद्ध दर्शन के विषय में जो अनेक ग्रन्थ निकलते रहते हैं, उनमें से अधिकांश मौलिकता से सर्वथा दूर हैं। वे केवल इधर उधर से कुछ सामग्री लेकर उसको नवीन आकार में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के द्योतक मात्र हैं। बौद्ध दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों की मौलिक जानकारी कराने में रूसी विद्वान् श्चेरबात्स्की का स्थान सर्वोपरि

है, और उसने बौद्ध दर्शनशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र पर मौलिक प्रकाश डाला है।[1] परन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि हीनयान के अन्तर्गत 'थेरावादियों' के दार्शनिक सिद्धान्त,जो पाली भाषा के ग्रन्थों में विद्यमान हैं,उनका अध्ययन बहुत अंश तक सन्तोषजनक हुआ है, परन्तु चीनी और तिब्बती भाषाओं में विद्यमान बौद्ध दार्शनिक साहित्य और उन भाषाओं के द्वारा पुनरुज्जीवित किया हुआ संस्कृत में लिखा गया बौद्ध दार्शनिक साहित्य अभी तक पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया है, और जो प्रकाश में आया है उसका भी अध्ययन नहीं हो सका है। कितने विद्वान् हैं, जिन्होंने डी ला वाली पूसिन् द्वारा पुनरुज्जीवित वसुबन्धु के महान् ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' का अध्ययन किया हो[2] या सिल्वनलेवी द्वारा प्रकाशित 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' का या राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रकाशित धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्त्तिक' का अथवा गायकवाड़ सिरीज़ में प्रकाशित हुए शान्तरक्षित के ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' का या डी ला वाली पूसिन् द्वारा सम्पादित और लेनिनग्रेड से प्रकाशित नागार्जुन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माध्यमिकवृत्ति' का या उसकी चन्द्रकीर्त्ति रचित टीका 'प्रसन्नपदा' का, या महामहोपाध्याय हरि प्रसाद शास्त्री द्वारा प्रकाशित 'छैः बौद्ध ट्रैक्टों' (Six Budhist Tracts) का, यहां तक कि

---

1. *वर्त्तमान लेखक ने श्चेरबात्स्की की भारतीय दर्शन, विशेषकर बौद्ध-दर्शन को देन के विषय में कई लेख लिखे हैं जिनमें से एक बनारस से निकलने वाली पत्रिका 'जनवाणी' में प्रकाशित हुआ था ; और दूसरा* "Contribution of Stcherbatsky to Indian Philosophy" *पर* 'Modern Review', Feb. 1953, *में प्रकाशित हुआ है।*

2. *हर्ष की बात है कि आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने १९४२–४३ में अहमदगढ़ जेल में रहते हुये पूसिन् के अभिधर्मकोश सम्बन्धी फ्रेञ्च भाषा में लिखे गये ग्रंथ का अंग्रेज़ी और हिन्दी में अनुवाद किया, हिन्दी का अनुवाद इस समय बनारस में छप रहा है।*

लगभग ७०० वर्ष पूर्व प्रकाशित धर्मकीर्ति के 'न्यायबिन्दु' का भी अध्ययन किया हो ? मौलिक बौद्ध दर्शन-ग्रन्थों के अध्ययन की तो बात ही क्या, वैदिक दर्शन-सम्प्रदाय के भी अनेक प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में बौद्ध सिद्धान्तों का सूक्ष्म निरूपण किया है, ऐसे ग्रन्थों में वाचस्पति-मिश्र की 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका', 'न्यायकणिका' ; कुमारिल का 'श्लोक-वार्त्तिक', प्रभाकर की 'बृहती', जयन्त की 'न्यायमञ्जरी', श्रीधर की 'कन्दली', उदयन की 'किरणावली' और 'आत्मतत्त्वविवेक' आदि ग्रन्थों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आज भारतीय दर्शन के विद्वान् प्राचीन प्रणाली के संस्कृत पण्डितों या आधुनिक पाश्चात्य ढंग के विद्वानों में ऐसे कितने हैं जिन्होंने इन ग्रन्थों में से एक का इतस्ततः पन्ने पलटने के अतिरिक्त आद्योपान्त सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन किया हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्ध दार्शनिक साहित्य बहुत विस्तृत है और उसका अध्ययन बहुत सीमित और प्रारम्भिक है। यह एक निश्चित तथ्य है, जिसे अभी तक स्वीकार नहीं किया गया है और कदाचित् पूरे तौर पर समझा भी नहीं गया है कि बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, गम्भीरता और व्यापकता वैदिक दर्शन के सिद्धान्तों से कहीं अधिक बढ़कर है। पाश्चात्य दर्शन की तुलना में और कई दृष्टियों से उससे भी अधिक महत्वपूर्ण भारतीय दर्शनशास्त्र का यदि कोई अङ्ग है, तो वह बौद्ध दर्शन ही है। श्चेरबात्स्की ने यह भलीभांति दिखला दिया है कि बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग (५ वीं सदी) के दर्शन में १८वीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिक 'काण्ट' के ज्ञान सिद्धान्त सम्बन्धी (epistemological) आधारभूत तत्त्व की रूपरेखा विद्यमान है। यह भी साफ है कि वेदान्त दर्शन, विशेषकर शङ्कर के अद्वैतवाद को नागार्जुन से ही प्रेरणा प्राप्त हुई थी, और न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तार करने वाले उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, जयन्त, श्रीधर और उदयन

आदि तथा पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय के कुमारिल और प्रभाकर के विचारों को स्फूर्ति देने वाले दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति ही थे। सारे भारतीय दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में नागार्जुन और दिङ्नाग के नाम सर्वोपरि हैं, यह बात भारतीय दर्शन शास्त्र के गम्भीर अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

६—बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का वास्तविक विभाजन

ऐसी दशा में जबकि बौद्ध दर्शन सम्बन्धी हमारा ज्ञान इतना अपूर्ण एवं अधूरा है, सारे बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का ठीक ठीक विभाजन सम्भव नहीं। परन्तु फिर भी बौद्ध दर्शन सम्बन्धी वर्त्तमान परिचय और ज्ञान के आधार पर निम्नलिखित मुख्य बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय समझे जा सकते हैं :—

(१) हीनयान के अन्तर्गत 'थेरावाद' जिस का साहित्य पालीमें विद्यमान है,

(२) हीनयान के अन्तर्गत 'सर्वास्तिवाद' जिस के मुख्य सम्प्रदाय 'वैभाषिक' के सिद्धान्तों का स्वरूप विशेषकर वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोष में पाया जाता है,

(३) नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन या शून्यवाद (nihilism or relativism)

(४) असङ्ग और वसुबन्धु का योगाचार सिद्धान्त, जिसका स्वरूप ज्ञान वाद (idealism) है;

(५) दिङ्नाग का 'बौद्ध न्याय-वाद'[1] जिसका विस्तार धर्मकीर्त्ति ने

---

1. *दिङ्नाग सम्प्रदाय के लिए 'न्यायवादी बौद्ध' ("न्यायवादिनो बौद्धाः") शब्द का प्रयोग स्वयं दिङ्नाग सम्प्रदाय के लेखकों ने किया है, उसके आधार पर ही श्चेरबात्स्की ने दिङ्नाग सम्प्रदाय के वर्णनात्मक अपने ग्रन्थ का नाम* 'Buddhist Logic' *रक्खा है।*

किया, इस सिद्धान्त को श्चेरबात्स्की ने सौत्रान्तिक अथवा सौत्रान्तिक–योगाचार भी कहा है।

यह स्पष्ट है कि बौद्ध–दर्शन का उपर्युक्त विभाग कोई प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता और न यह विभाग कहीं बौद्ध–ग्रन्थों में दिया गया है, परन्तु बौद्ध दर्शन के विषय में इस समय हमारी जो जानकारी है, उसके अनुसार इन्हीं बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त ही हमारे सामने आए हैं। उपर्युक्तविभाजन में सौत्रान्तिक को दिङ्नाग सम्प्रदाय के अतिरिक्त अलग दार्शनिक–सम्प्रदाय नहीं कहा गया है, कम से कम उस प्रकार का सौत्रान्तिक दर्शन, जिसका निरूपण सर्वदर्शनसंग्रह में किया गया है, (देखो परिच्छेद ६), बौद्ध–दार्शनिक साहित्य में कहीं भी नहीं पाया जाता [1]। यह ठीक है कि बौद्ध साहित्य में सौत्रान्तिक नाम का एक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय था, और वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोष' (जो कि एक वैभाषिक ग्रन्थ है) का टीकाकार यशोमित्र सौत्रान्तिक था, परन्तु दिङ्नाग से भिन्न कौन सा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय था और उसके दार्शनिक सिद्धान्तों की रूपरेखा क्या थी, इसका पता अभी तक स्पष्ट रूप से नहीं लग सका है, यद्यपि सौत्रान्तिकों के कुछ फुटकर सिद्धान्तों का उल्लेख इधर उधर मिलता है। ऊपर जो दार्शनिक सम्प्रदाय बताए गए हैं, उन में से पहले दोनों अर्थात् 'थेरावादी' और 'सर्वास्तिवादी' (वैभाषिक) हीनयान मार्ग के अन्तर्गत हैं, परन्तु शेष तीन अर्थात् माध्यमिक, योगाचार

---

1. *वर्तमान लेखक ने इसी विषय पर* The Sautrantika Theory of Knowledge *शीर्षक से एक लेख* "Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute", Volume XXXII, 1952 *में लिखा था, जिसमें यह बताया गया था कि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अनुसार निरूपित ज्ञानसिद्धान्तवादी किसी सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का पता बौद्ध-साहित्य में नहीं पाया जाता।*

तथा दिङ्नाग–सम्प्रदाय महायान मार्ग के अन्तर्गत हैं, इन में से थेरावादियों का दार्शनिक साहित्य पाली भाषा में है, जिस पर श्रीमती रीज डेविड्स (Mrs. Rhys Davids) ने बहुत प्रकाश डाला है। परन्तु सर्वास्ति-वादियों का सारा साहित्य संस्कृत में था, और उसके अन्तर्गत वैभाषिक सम्प्रदाय का दार्शनिक ग्रन्थ 'अभिधर्मकोष' भी संस्कृत में ही है। यह भ्रम बहुत दिन तक प्रचलित रहा कि हीनयान के ग्रन्थ पाली भाषा में, और महायान के संस्कृत भाषा में हैं, परन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सर्वास्तिवादी हीनयान मार्ग के अनुयायी थे और उनके सारे ग्रन्थ संस्कृत भाषा में थे। यह स्पष्ट ही है कि शेष महायान के अन्तर्गत तीनों दार्शनिक सम्प्रदायों—माध्यमिक, योगाचार तथा दिङ्नागीय न्याय-वादियों के ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं।

१० जैन और चार्वाक

वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय के "सर्वदर्शन संग्रह" आदि ग्रन्थों में बौद्ध–दर्शन के अतिरिक्त दो अन्य "अवैदिक" दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन है, एक जैन और दूसरा चार्वाक। जैन धर्म भी बौद्ध धर्म के समान वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के विद्रोह में खड़ा हुआ था और बौद्ध धर्म के समान वह भी अहिंसाप्रधान, वेद और ब्राह्मणों का विरोधी तथा ईश्वर का निषेध करने वाला था, इसी लिए बहुत दिन तक आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में यह भ्रम फैला रहा कि जैन और बौद्ध धर्म एक ही हैं। परन्तु अब यह भ्रम सर्वथा दूर हो गया है। उनके धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों में बहुत बड़ा अन्तर है, परन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों में यह अन्तर इतना अधिक है, कि जैन दर्शन की मौलिक रूपरेखा बौद्ध दर्शन की अपेक्षा न्यायवैशेषिक के अधिक समीप है। ऊपर यह कहा गया है कि 'अनात्मवाद' बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों की वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों से विभाजक रेखा है। उस दृष्टि से "जैनदर्शन" न केवल

प्राणियों में अलग आत्मा मानने के कारण, प्रत्युत बाह्य वस्तुओं को द्रव्य रूप में मानने के कारण भी बौद्ध दर्शन की अपेक्षा वैदिक दर्शनों के अधिक समीप आता है।

भारतीय दर्शनों में अतिशय रूप से भौतिकवादी (extreme materialist) केवल चार्वाक दर्शन ही है। वह ईश्वर, आत्मा आदि को तो मानता ही नहीं प्रत्युत परलोक और पुनर्जन्म को भी नहीं मानता। और क्योंकि भारतीय धर्मों और दर्शनों में नैतिकता और सदाचार (morality) का आधार पुनर्जन्म ही है, इस लिये सारे भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक ही ऐसा दर्शन है जो नैतिकता और सदाचार के आदर्श को पाश्चात्य दर्शन के 'एपीक्यूरिअनिज्म' [Epicurianism] के समान सर्वथा छोड़कर ऐन्द्रियिक भोग और सुख को लक्ष्य बनाता है। इसीलिये इस दर्शन का दूसरा नाम *'लोकायत'* अर्थात् 'लोक' सामान्य लोगों की साधारण प्रकृति पर आश्रित (आयत=आश्रित) दर्शन है।

११ भारतीय दर्शन और योग

वैदिक दर्शनों में योगसम्बन्धी भी एक दर्शन है। उसके निर्माता पातञ्जलि के होने के कारण वह 'पातञ्जलयोग दर्शन' कहलाता है। 'योग' शब्द दो धातुओं से बन सकता है:- (१) 'युजिर् योगे' जिसके अनुसार योग का अर्थ होगा 'जोड़ना' और (२) 'युज् समाधौ' जिसके अनुसार योग का अर्थ होगा 'समाधि' या 'ध्यान' अर्थात् चित्त को एकाग्र करना। पहिले अर्थ के अनुसार योग किसी 'अलौकिक' तत्त्व से जोड़ने वाला साधन होता है और दूसरे अर्थ के अनुसार योग 'ध्यान' या 'समाधि' का नाम होगा जिसके द्वारा साधक अलौकिक तत्त्व से जुड़ता है। पातञ्जलयोगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने योग को इस दूसरे अर्थ में ही लिया है। योग की प्रक्रिया में यह समझा गया है कि हम ध्यान के द्वारा ही अलौकिक तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं।

परन्तु 'योग' के दार्शनिक सिद्धान्त क्या हैं, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान पातञ्जल योगसूत्र दार्शनिक क्षेत्र में "सांख्य" के सिद्धान्तों पर आश्रित है; उसके अपने कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं हैं। इसी लिये योग और सांख्य को साथ २ लिया जाता है। परन्तु योग का क्या केवल सांख्य के दार्शनिक सिद्धान्तों से ही सम्बन्ध है? यथार्थ बात यह है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन (चार्वाक और पूर्वमीमांसा को छोड़कर) यह मान कर ही चलता है कि जिस तत्त्वज्ञान की ओर वह निर्देश करता है उसकी साक्षात् अनुभूति योग ही के द्वारा होती है। वेदान्त में 'तत्त्वज्ञान' होने से पूर्व योग के अभ्यास को आवश्यक माना गया है। इसीलिये वेदान्तग्रन्थों में योग का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक का भी योग से सम्बन्ध रहा है। यहां तक कि न्याय के वात्स्यायनभाष्य में न्याय-वैशेषिक दर्शन के लिये 'यौग' या 'योग' शब्द आया है, जिसको बहुत दिन तक नहीं समझा गया था [1]। इसी तरह जैन धर्म या जैन दर्शन में भी योग की प्रक्रिया पर जोर दिया गया है।

जहां तक बौद्ध दर्शन का प्रश्न है उसके विषय में तो डी० ला० वाली पूसिन् ने लिखा था कि प्रारम्भ में बौद्धदर्शन योग या जादू की प्रक्रिया के अभ्यास के सिवाय कुछ भी न था[1] आलोचनात्मक विचार करने

---

1. *न्याय वात्स्यायनभाष्य में 'असदुत्पद्यत उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्' ऐसा आया है, जिसका अर्थ है कि 'जो पहिले से था वह उत्पन्न होता है और जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होता है' ऐसा 'योग' का सिद्धान्त है। यह स्पष्ट है कि यह योग का सिद्धान्त नहीं प्रत्युत न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है। इस लिये यहाँ 'योग' या 'यौग' शब्द न्याय-वैशेषिक के लिये आया है। देखो, प० गोपीनाथ कविराज का लेख, सरस्वती भवन स्टडीज़, जिल्द तीन, पृष्ठ ८४-८५।*

2. *देखो श्चेरबात्स्की रचित* Buddhist Nirvana P. 6, *जहां डी०ला० वाली पूसिन् के मत को उद्धृत किया गया है।*

से यह पता चलता है कि बौद्धदर्शन का 'योग' के साथ प्रारम्भ से ही इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है जितना कि कदाचित् किसी वैदिक दर्शन का भी न हो। पातञ्जल योगसूत्रों पर व्यासभाष्य जो कि 'योग' का आधारभूत ग्रन्थ है, बौद्ध प्रभाव से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होता है उसके अनेक शब्द 'बौद्ध सम्प्रदायों' के ही शब्द हैं[1]। यहां पर हमें केवल इतना ही कहना है कि यद्यपि 'योग' छै वैदिक दर्शनों में से एक है; परन्तु वस्तुतः 'योग' कोई दार्शनिक मत नहीं है, प्रत्युत 'योग' का अभ्यास कई वैदिक और अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ सम्बद्ध है। वर्त्तमान समय में वैदिक छै दर्शनों में जो 'पातञ्जल-योगदर्शन' गिना जाता है वह सांख्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध योग है, अर्थात् जैसा कि ऊपर कहा गया है, उसके दार्शनिक सिद्धान्त सांख्य के ही हैं, परन्तु जहां तक क्रियात्मक योग प्रक्रिया का प्रश्न है सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के योग की प्रक्रिया पतञ्जलि की योग-प्रक्रिया से मिलती जुलती थी, यह स्पष्ट है।

१२ प्रकीर्ण दार्शनिक सम्प्रदाय

ऊपर हमने जिन दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, उनसे अतिरिक्त अनेक अन्य भी दार्शनिक सम्प्रदाय थे, उदाहरणार्थ, माधवाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ सर्वदर्शनसंग्रह में उपर्युक्त प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के सिवाय पूर्णप्रज्ञदर्शन, नकुलीपाशुपतदर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, रसेश्वरदर्शन आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन है। यहां तक कि 'पाणिनि' का दर्शन भी एक अलग दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में दिखाया गया है।

यह स्पष्ट है कि इसके अतिरिक्त भी अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय थे, उदाहरणार्थ, द्वैतवादी माध्वों का भी एक अलग दार्शनिक सम्प्रदाय था,

---

1. *उदाहरणार्थ, विकल्प, प्रत्यय (कारण के अर्थ में), समापत्ति आदि अनेक शब्द हैं जो उन अर्थों में बौद्धदर्शन में ही प्रयुक्त होते रहे हैं।*

यद्यपि उसका वर्णन सर्वदर्शनसंग्रह में नहीं है। परन्तु फिर भी मुख्य २ दार्शनिक सम्प्रदाय—वैदिक और अवैदिक—वे ११ ही हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

१३—भारतीय दर्शनों का विभाग

भारतीय दर्शनों का साधारणतया प्रचलित विभाग निम्न प्रकार से है:—

तीन नास्तिक दर्शन:— (१) चार्वाक, (२) जैन और (३) बौद्ध

छै *आस्तिक दर्शन:*— जिन में प्रत्येक दो दर्शन परस्पर सम्बद्ध हैं:—

१—२ पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त),

३—४ सांख्य और योग

५—६ न्याय और वैशेषिक,

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में कोई सिद्धान्त सम्बन्धी समानता नाम मात्र की भी नहीं है, उनका परस्पर सम्बन्ध केवल इतना ही है कि पूर्वमीमांसा का वेद के पूर्वभाग अर्थात् कर्मकाण्ड से सम्बन्ध है और उत्तरमीमांसा का वेद के उत्तर (अन्तिम) भाग अर्थात् उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध है, अर्थात् उन दोनों का सम्बन्ध एक बाह्य बात के आधार पर है न कि आन्तरिक सिद्धान्त सम्बन्धी समानता के आधार पर। बाकी दो २ दर्शनों के दोनों युग्मों में अर्थात् सांख्य और योग में तथा न्याय और वैशेषिक में सिद्धान्त सम्बन्धी समानता है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकार उपर्युक्त रीति पर कुल मुख्य २ भारतीय दर्शन नौ होते हैं, ऊपर के पृष्ठों में भारतीय दर्शनों के अलग २ सिद्धान्तों और पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जो कुछ कहा गया है उस दृष्टि से देखें, तो निम्नलिखित ११ मुख्य २ भारतीय दर्शन होते हैं:—

१ चार्वाक
२ जैन,
३—७ निम्नलिखित ५ बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायः—
१ थेरावाद
२ सर्वास्तिवाद (वैभाषिक)
३ शून्यवाद
४ योगाचार
५ दिङ्नाग का न्यायवाद या दिङ्नाग-सम्प्रदाय,
८—११ निम्नलिखित ४ वैदिक दर्शनः—
१ पूर्वमीमांसा
२ वेदान्त
३ सांख्य
४ न्याय-वैशेषिक

यह स्पष्ट ही है कि पिछला दार्शनिक विभाग पहिले की अपेक्षा अधिक युक्ति-संगत और आन्तरिक सिद्धान्तों की समानता और भेद पर निर्भर है। बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों के विषय में बतलाया जा चुका है कि वे परस्पर इतने भिन्न २ हैं कि उन्हें अलग २ रखना आवश्यक है, इसी प्रकार वैदिक दर्शनों के विषय में पूर्वमीमांसा और वेदान्त को साथ २ रक्खा जाता है परन्तु यह बतलाया जा चुका है कि उन दोनों के सिद्धान्तों में किसी प्रकार की समानता नहीं, प्रत्युत पूर्वमीमांसा बाह्यार्थवादी होने से न्याय-वैशेषिक के अधिक समीप है। योग कोई दार्शनिक सम्प्रदाय ही नहीं, इस लिये उसे छोड़कर केवल सांख्य को ही दर्शन के रूप में गिनाया गया है और न्यायतथावैशेषिक के सिद्धान्तों में बहुत साम्य है और वे एक दूसरे के पूरक हैं इस लिये उनको दो अलग २ सम्प्रदाय न मान कर न्याय-वैशेषिक नाम से एक ही दार्शनिक सम्प्रदाय गिनना चाहिए।

पूर्व इसके कि हम इन ११ दर्शनों का संक्षिप्त परिचय दें, यह आवश्यक है भारतीय दर्शन सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर कुछ विचार किया जाय।

१४—दर्शनों में 'आस्तिक' और 'नास्तिक' का भेद

ऊपर बतलाया गया है कि प्रचलित परम्परा के अनुसार दर्शनों में तीन नास्तिक और छै आस्तिक दर्शन माने जाते हैं। साधारणतया आस्तिक ईश्वर के मानने वाले को कहते हैं और नास्तिक ईश्वर के न मानने वाले को। परन्तु यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त विभाग में यह अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि आस्तिक कहलाने वाले दर्शनों में से कम से कम दो पूर्वमीमांसा और सांख्य स्पष्ट रूप से ईश्वर को नहीं मानते, और वेदान्त का ब्रह्मवाद भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय ईश्वर के सिद्धान्त का निषेध ही है। शेष तीन दर्शनों में, अर्थात् योग, न्याय और वैशेषिक में ईश्वर को माना तो गया है, परन्तु उनकी आन्तरिक दार्शनिक प्रक्रिया में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है, केवल अलग से अर्थात् बाह्य रूप में मानों मानने की दृष्टि से ही ईश्वर को स्थान दिया गया है जैसा कि आगे दिखाया जायगा। इसलिये यह स्पष्ट है कि ईश्वर को मानने और न मानने की दृष्टि से दर्शनों का यह आस्तिक नास्तिक विभाग नहीं बनता। वास्तविक बात यह है कि वैदिक सम्प्रदायों के लोग 'आस्तिक' उन्हें कहते थे जो वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानते हों। इस दृष्टि से ६ वैदिक दर्शन आस्तिक दर्शन हैं और बाकी चार्वाक, जैन, और बौद्ध नास्तिक दर्शन हैं। वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते।

परन्तु गम्भीर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि वेदों को मानने, न मानने के आधार पर आस्तिक और नास्तिक का भेद निराधार है, वस्तुतः पाणिनि व्याकरण की दृष्टि से आस्तिक शब्द का अर्थ है कि जो 'है' (अस्ति) यह मानता हो वह आस्तिक और जो 'नहीं है' (नास्ति)

ऐसा मानता है वह नास्तिक। 'है' या 'नहीं है' यह 'परलोक' की दृष्टि से कहा जाता है अर्थात् परलोक है या नहीं। उसका वास्तविक तात्पर्य केवल यह है कि अपने बुरे और भले कर्मों का अर्थात् धर्म और अधर्म का फल मानना आस्तिकता है; दूसरे शब्दों में यह कि धर्म और सत्य की व्यवस्था अथवा धर्म के आदर्शों में विश्वास रखना (faith in the moral order or in the moral ideal)[1]। इसी तत्त्व को सामने रखते हुए बौद्ध और जैन दार्शनिक लेखकों ने केवल चार्वाक को जो पुनर्जन्म या कर्म फल नहीं मानता और इस प्रकार धर्म और सत्य के आदर्श में विश्वास नहीं रखता, केवल नास्तिक माना है। और बौद्ध और जैन धर्म को जो पुनर्जन्म और कर्म फल मानते हैं, आस्तिक दर्शन माना है [2]। इस प्रकार केवल एक चार्वाक ही नास्तिक दर्शन ठहरता है और बाकी सभी भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय आस्तिक माने जायेंगे।

१५—ब्राह्मणिक के स्थान में 'वैदिक' शब्द का प्रयोग

साधारणतया पाश्चात्य लेखकों की पद्धति में न केवल भारतीय दर्शनों में ही प्रत्युत भारतीय साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी बौद्ध और जैनों से भिन्न दर्शन या साहित्य के लिये जिसका वर्तमान रूप 'हिन्दुधर्म' है, 'ब्राह्मण सम्बन्धी' अथवा 'ब्राह्मणिक' [3] (Brahmanic)

---

1. *पाणिनिसूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (IV.४,६०) पर काशिका और महाभाष्य के टीकाकार कैय्यट ने 'आस्तिक' 'नास्तिक' का यही अर्थ अर्थात् परलोक कर्म फल को मानने वाला और न मानने वाला लिया है।*

2. *उदाहरणार्थ षड्दर्शनसमुच्चय और उसके टीकाकार गुणरत्न ने बौद्ध और जैन दर्शन को आस्तिक दर्शन माना है और केवल चार्वाक को नास्तिक दर्शन माना है।*

3. *'ब्राह्मण' से अंग्रेजी भाषा का प्रत्यय लग कर ब्राह्मनिक (Brahmanic) बनता है और संस्कृत का शब्द भी 'ब्राह्मणिक' ही बनेगा, यद्यपि इस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं होता।*

इस शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि यह शब्द जो कि इस दृष्टि से किया जाता कि इस धर्म या संस्कृति या दर्शन के प्रवर्त्तक 'ब्राह्मण' वर्ण या जाति के लोग हैं, दोषयुक्त है, क्योंकि अनेक महान् बौद्ध आचार्य भी वर्ण या जाति की दृष्टि से ब्राह्मण ही थे यद्यपि बौद्धधर्म जाति और वर्ण नहीं मानता।

इस प्रकार 'ब्राह्मण' शब्द के प्रयोग से एक भ्रमपूर्ण भावना यह उत्पन्न होती है कि मानो 'ब्राह्मण' जाति का बौद्धधर्म से कोई विशेष रूप से विरोध था, वस्तुतः 'ब्राह्मण सम्बन्धी' (Brahmanic) शब्द की जगह 'वैदिक' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त और बुद्धिसंगत है, क्योंकि जिस साहित्य या दर्शन को हम 'ब्राह्मण सम्बन्धी' कहते हैं उसका स्रोत वेद या वेद के कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ[1], या उपनिषद् हैं और उस साहित्य में वेद को मुख्य प्रमाण माना गया है, परन्तु जहां तक ब्राह्मण वर्ग का सवाल है, यह ठीक है कि अधिकतर ब्राह्मण पुरानी परम्परा को मानने वाले वैदिक ही थे, परन्तु यह भी स्पष्ट है कि बौद्धों के अनेक प्रमुख आचार्य जैसे दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि ब्राह्मण ही थे। वस्तुतः बात यह है कि जो ब्राह्मण क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के होते थे वे बौद्ध धर्म के अनुयायी हो जाते थे। इसीलिए प्राचीन परम्परागत प्रवृत्ति के लिए 'ब्राह्मणिक' शब्द का प्रयोग न करके 'वैदिक' शब्द का प्रयोग इस पुस्तक में किया गया है।

---

1. *'ब्राह्मण' शब्द दो अर्थों में आता है, एक ब्राह्मण जाति या वर्ण के लिये और दूसरा वेद की संहिताओं से अतिरिक्त वेद के उस पिछले भाग के लिये जिसमें कर्मकाण्ड और यज्ञ का वर्णन है। ब्राह्मण भी वेद के ही भाग माने जाते हैं और 'उपनिषद्' यद्यपि विषय की दृष्टि से अलग हैं, परन्तु वैसे प्राचीन उपनिषद् भी ब्राह्मणों के ही हिस्से हैं।*

१६ *'दर्शन', 'मीमांसा' और 'फिलासफ़ी'*

पाश्चात्य देशों में साहित्य या वाङ्मय[1] (Literature) के जिस विभाग के लिए 'फिलासफ़ी' [Philosophy] शब्द का प्रयोग होता है उसके लिए हमारे यहां बहुत दिनों से 'दर्शन' शब्द का प्रयोग होता रहा है, जैसे 'बौद्ध दर्शन' या 'वेदान्त दर्शन' आदि। आधुनिक समय में भारतीय भाषाओं में 'फिलासफी' के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग सर्व सम्मत सा हो गया है और यह प्रयोग प्राचीन परम्परा के अनुसार होने से ठीक भी है, परन्तु ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में संस्कृत वाङ्मय में 'दर्शन' शब्द न होकर 'फिलासफी' के लिए '*मीमांसा*' शब्द का प्रयोग हुआ था। इसी लिए वेद के दो विभाग कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ और ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी उपनिषदों पर आश्रित दर्शनों को 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा' इन शब्दों से व्यवहृत किया गया था यह भी बड़ी रोचक बात है कि 'फिलासफी' और 'मीमांसा' शब्दों के यौगिक अर्थ (literal meaning) भी समान ही है। 'फिलासफी' शब्द का अर्थ है ज्ञान का प्रेम (philos = loving, and sophia = wisdom)। इसी प्रकार 'मीमांसा का शब्दार्थ है 'मनन' या ज्ञान की इच्छा (मन्=जानना, समझना+इच्छार्थक प्रत्यय+'अ'प्रत्यय), इस लिए मीमांसा का अर्थ होता है किसी विषय की परीक्षा (examination or investigation) इस प्रकार 'फिलासफी'के अर्थ में 'मीमांसा' शब्द बहुत ही उपयुक्त है। 'दर्शन' शब्द का शब्दार्थ है 'देखना' अर्थात् साक्षात् रूप से देखना जो कि तत्त्वदर्शियों या योगियों को नैसर्गिक प्रज्ञा (intuition) की ओर सङ्केत करता है। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ होता है 'तत्त्व का साक्षात्कार'। न केवल वैदिक दर्शनों की प्रत्युत

---

1. 'Literature' के *अर्थ में प्राचीन संस्कृत शब्द 'वाङ्मय' है न कि 'साहित्य' जोकि इस समय व्यवहार में आने लगा है।*

बौद्धों की परम्परा के अनुसार दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण मानसिक तर्क की ऊहापोह नहीं होता, प्रत्युत महान् पुरुषों की नैसर्गिक प्रज्ञा या प्रतिभा (intuition) पर आश्रित होता है, इस लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग (जिसका अर्थ है 'तत्त्वको साक्षात् रूप से देखना') 'मीमांसा' शब्द की अपेक्षा (जिसका शब्दार्थ है 'तर्क द्वारा परीक्षा') अधिक उपयुक्त समझा गया ।

यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के मुख्य विषय अर्थात् न्यायवैशेषिक शास्त्र के इतिहास और सिद्धान्तों का विशद निरूपण करने से पूर्व सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के साहित्य और सिद्धान्तों का अति-संक्षिप्त निरूपण किया जावे,विशेषकर दार्शनिक सम्प्रदायों के उन सिद्धान्तों का जिनका अध्ययन हमें न्याय-वैशेषिक में करना है, क्योंकि उसके विना हम न्याय-वैशेषिक के इतिहास और सिद्धान्तों को समुचित दृष्टिकोण (proper perspective) से नहीं देख सकते ।

१७. चार्वाक-दर्शन

सारे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यही एक दर्शन है जो सर्वथा 'भूतवादी' (materialist) है। उसके अनुसार जो कुछ हमें प्रत्यक्ष दीखता है—अर्थात् यह भौतिक जगत् और भौतिक शरीर; उसके सिवाय, ईश्वर, आत्मा या परलोक (पुनर्जन्म) इत्यादि सब मिथ्या कल्पनाएँ हैं । केवल एक 'प्रत्यक्ष'को ही चार्वाक प्रमाण मानता है । 'शब्द' या 'वेद' को प्रमाण मानना तो दूर की बात, वह अनुमान को भी प्रमाण नहीं मानता, इसलिये चार्वाक के अनुसार यह शरीर मृत्यु के समय यहीं समाप्त हो जाता है; न कोई आत्मा है और न कोई पुनर्जन्म और न उसका फल दाता ईश्वर । इसलिये वर्त्तमान जीवन में ऐन्द्रियिक भोग प्राप्त करना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है । इस दर्शन-सम्प्रदाय को 'लोकायत' अर्थात् लोक पर आश्रित दर्शन भी कहते हैं, क्योंकि यह कहा जा सकता

है कि साधारणतया मनुष्य अपने स्वाभाविक व्यवहार में इसी सिद्धान्त को मान कर चलते हैं। 'आत्मा' और 'परमात्मा' या 'परलोक' आदि तत्त्वों को बुद्धिमान् मनुष्यों ने सीधे मनुष्यों को बहका कर उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध कराने के लिये निकाला है। इस दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक बृहस्पति नामक कोई आचार्य माना जाता है जिसके विषय में हमारी कोई अधिक जानकारी नहीं है। इस सम्प्रदाय का कोई विशेष अलग दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है। सारे दर्शन-सम्प्रदायों के संग्रह ग्रन्थों में, जैसे सर्वदर्शन-संग्रह आदि में ही इसका वर्णन पाया जाता है। परन्तु अभी हाल में गायकवाड संस्कृत सीरीज़ में एक ग्रन्थ 'जयर्षिभट्टकृत तत्त्वोपप्लव' नाम का प्रकशित हुआ है जो कि वर्तमान समय में एकमात्र इस सम्प्रदाय का ग्रन्थ है।

१८—जैन दर्शन

यहां पर हम जैन धर्म के विषय में कुछ न कहकर केवल जैन दर्शन के उस मूल तत्त्व की ओर सङ्केत करेंगे जो कि जैन दर्शन की भारतीय दर्शन को देन है। यह ऊपर (I. परि० १०) बताया जा चुका है कि भूल से पहिले पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्धधर्म और जैन धर्म में अन्तर नहीं किया था, परन्तु उनमें कतिपय समतायें होते हुए भी उनकी दार्शनिक प्रक्रिया में मौलिक भेद है। अर्थात् बौद्ध 'अनात्मवादी' और जैन वैदिक दर्शनों के समान 'आत्मवादी' हैं। वे आत्मा और बाह्य वस्तुओं को 'द्रव्य' के रूप में मानते हैं। जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन को एक नया दृष्टि कोण दिया जिसे 'अनेकान्तवाद' कहते हैं। और वही अनेकान्तवाद तर्क या न्याय में 'सप्तभङ्गीनय' अथवा स्याद्वाद का रूप ग्रहण कर लेता है। इस लिये जैनदर्शन के तत्त्व को समझने के लिये अनेकान्तवाद का स्वरूप समझना आवश्यक है। 'एकान्त' का अर्थ है कि 'एक ही अन्त' अर्थात् किसी विषय में एक ही 'अन्त' अर्थात् एक ही सिद्धान्त हो। अधिकांश

दर्शनशास्त्र एकान्तवादी हैं अर्थात् किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में एक ही निश्चित सिद्धान्त मानते हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं कि किसी वस्तु का एक ही स्वरूप हो यह ठीक नहीं, उसके भिन्न २ दृष्टियों से अनेक स्वरूप हो सकते हैं और वे भिन्न २ दृष्टियों से सभी ही ठीक होंगे। इसी को *अनेकान्तवाद* कहते हैं। जहां एक ओर भिन्न २ दार्शनिक सम्प्रदाय के लोग परस्पर एक दूसरे का खण्डन करते हुए कलह करते हैं वहां जैनों की यह अनेकान्त दृष्टि उन भिन्न २ मतों में 'समन्वय', सामञ्जस्य या सङ्गति स्थापित करती है। इस 'अनेकान्तवाद' को उदाहरण के द्वारा कुछ अधिक स्पष्ट समझने की आवश्यकता है।

प्रत्येक वस्तु को हम उसके 'सामान्य' और 'विशेष रूप' में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक घट को हम एक घट व्यक्ति के रूप में देख सकते हैं, तथा सामान्य घट के रूप में देख सकते हैं, या और भी बड़ा सामान्यरूप लेकर 'पृथ्वी' के रूप में या 'द्रव्य' के रूप में और परम-सामान्य दृष्टि करने पर सत्ता के रूप में देख सकते हैं। इन विशेष और सामान्य रूपों में कौन यथार्थ है या परम सत्य है? दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में उनके दो परस्पर सर्वथा विपरीत उत्तर मिलते हैं। वेदान्त के अनुसार 'सामान्यरूप' ही यथार्थ है, और विशेष रूप भ्रम मात्र हैं। इस प्रकार जगत् में केवल एक 'सत्ता' 'विशुद्ध सत्ता' ही अद्वैत तत्त्व है और वही यथार्थ है और वही नित्य शाश्वत है और वस्तु में प्रतीत होने वाले विशेष स्वरूप अयथार्थ भ्रम मात्र हैं। सारा दृश्यमान प्रपञ्च शुद्धसत्ता में आरोपित किये हुए इन विशेषरूपों पर ही आश्रित है इस लिये वह अयथार्थ है। दूसरे शब्दों में 'सत्तारूप' सामान्य धर्मी है अर्थात् धर्मों का आश्रय है. वह यथार्थ है और उसमें प्रतीत होने वाले विशेष स्वरूप अयथार्थ धर्म हैं। बौद्ध ठीक इससे विपरीत विचार प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार पदार्थों का विशेष रूप अर्थात् उनका अपना व्यक्तिगतरूप (स्व-लक्षण=

अपना व्यक्तिगत स्वरूप) यथार्थ है, और उन विशेषों में सामान्य स्वरूप की प्रतीति (सामान्य लक्षण = सामान्य स्वरूप) केवल मानस कल्पना है, अयथार्थ है, उसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं। इस लिए प्रत्येक वस्तु का 'विशेषरूप' है जो कि न तो काल के दो या अधिक क्षणों में रह सकता है, और न देश के दो या अधिक बिन्दुओं पर एक वस्तु के रूप में होता है। इस प्रकार वस्तु का जो स्वरूप काल की दृष्टि से, देश की दृष्टि से और वस्तु के स्वरूप दृष्टि से सब से अलग (सर्वतोव्यावृत्त) है, वही वस्तु का 'अपना निजी स्वरूप' (स्वलक्षण) यथार्थ है। इस प्रकार वस्तुओं में प्रतीत होने वाले केवल विशेषस्वरूप 'धर्म' यथार्थ हैं, उन क्षणिक काल और देश से व्यावृत्त धर्मों का स्थिर आकार रूप कोई धर्मी नहीं है। वेदान्त केवल धर्मी को यथार्थ मानता है, और धर्मों को अयथार्थ। बौद्ध केवल धर्मों को यथार्थ मानता है, उन धर्मों में सामान्यरूप से रहने वाले धर्मी को अयथार्थ या मानस कल्पनामात्र मानता है।

यह दोनों दृष्टियां परस्पर विपरीत हैं वे वस्तु के एक ही स्वरूप को 'सामान्य रूप धर्मी' को या 'विशेषरूप धर्मों' को—यथार्थ मानकर एक दूसरे का खण्डन करती हैं। उनके अनुसार एक ही बात [एक ही सिद्धान्त, एक ही अन्त] ठीक हो सकता है इसलिए वे 'एकान्तवादी' हैं। परन्तु जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि के अनुसार उन दोनों ही मतों में सत्य का अंश विद्यमान है। प्रत्येक वस्तु, उदाहरणार्थ यदि स्वर्ण को ले लें तो हम देखते हैं कि वह अनेक रूपों में बदलता है, कभी कङ्कण, कभी अंगूठी, और कभी कर्णभूषण आदि के विशेष २ रूपों में आजाता है, यह सब धर्म बदलने वाले हैं, परन्तु कुछ ऐसे धर्म हैं, जो इन सब रूपों में एक से रहते हैं, जो बदलते नहीं। उस वस्तु की कङ्कण, अंगूठी, कर्णभूषण आदि के रूप में बदलने वाली भिन्न २ अवस्थाओं में भी न बदलने वाले [पीला रंग,

भारी, ठोसपन आदि] कतिपय गुणों के कारण ही हम उस वस्तु को सुवर्ण द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार एक वस्तु का स्थिर रूप भी है। जिसके कारण स्थिर धर्मी या द्रव्य स्वीकार किया जाता है, और उस वस्तु के बदलने वाले धर्म भी हैं जो उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु में दोनों स्वरूप हैं यही वस्तु का 'अनेकान्त' रूप है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में जो स्थिर धर्म है उन्हें 'गुण' कहते हैं और जो बदलने वाले धर्म हैं उन्हें 'पर्याय' कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य का लक्षण यह है कि जो 'गुण' और 'पर्याय' से युक्त हो।

अनेकान्तवाद को एक लौकिक दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जब हम वृक्षों के समूह को एक 'वन' के रूप में अर्थात् सामान्य रूप में देखते हैं तो उस समय विशेष रूप अर्थात् वृक्षों का स्वरूप भी बना ही रहता है, पर उसका ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार जब हम विशेष रूप को अर्थात् अलग २ वृक्षों को ग्रहण करते हैं तो उस समय 'वन' के स्वरूप में सामान्य भी विद्यमान होता है केवल उसका ग्रहण नहीं होता। यह दोनों ही स्वरूप भिन्न भिन्न दृष्टियों से सत्य हैं। जब केवल एक ही स्वरूप को सत्य मान कर अर्थात् वस्तु के विषय में एक ही 'अन्त' [सिद्धान्त] माना जाता है तो वही 'एकान्तवाद' है जिस से दार्शनिकों में विरोध उत्पन्न होता है। 'अनेकान्त' दृष्टि यह है कि वस्तु के दोनों ही स्वरूप भिन्न २ दृष्टियों से सत्य हैं। यही जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का स्वरूप है[1]।

यही 'अनेकान्तवाद' जैनियों के न्याय या तर्क में [सप्तभङ्गी नय]

1—*जैनदर्शन की इस अनेकान्तदृष्टि के निरूपण में लेखक को हेमचन्द्र कृत प्रमाणमीमांसा की श्री सुखलाल जी संघवी की भूमिका (सिंधी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद में प्रकाशित)से विशेष सहायता मिली है। हमारे देश में सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि रखने वाले गिने चुने व्यक्तियों में सुखलाल जी अन्यतम हैं।*

या 'स्याद्वाद' के रूप में प्रकट होता है। स्याद्वाद का पूर्ण निरूपण करना यहां सम्भव नहीं, केवल संक्षेप में उसका स्वरूप दिखाया जाता है। प्रत्येक वस्तु के विषय में (१) किसी दृष्टि से 'वह है' [स्याद् अस्ति], (२) किसी दृष्टि से वह नहीं है (स्याद् नास्ति),(३) किसी दृष्टि से वह है और किसी दृष्टि से नहीं है(स्याद् अस्ति नास्ति च)(४ किसी दृष्टिसे वह अवक्तव्य है अर्थात् उसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता(स्याद् अवक्तव्यः) फिर पहिले तीनों को 'अवक्तव्य' के साथ मिलाकर तीन और प्रकार (भङ्ग) हो जाते हैं, (५) किसी दृष्टि से वह वस्तु है और अवक्तव्य है(स्याद् अस्ति च अवक्ताव्यश्च), (६) किसी दृष्टि से वह वस्तु है, नहीं है और अवक्तव्य है (स्याद् नास्ति च अवक्तव्यश्च), (७) और किसी दृष्टि से वह वस्तु है और किसी दृष्टि से नहीं और अवक्तव्य भी है [स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च]।

जैन दर्शन के मुख्य-मुख्य आधार ग्रन्थ निम्न लिखित हैं :—

[१] उमास्वाति रचित—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र [प्रथम शताब्दी]
[२] सिद्धसेन दिवाकर रचित—न्यायावतार [५३३ ई०]
[३] प्रभासचन्द्र रचित—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड [८२५ ई०]
[४] हेमचन्द्र रचित—प्रमाणमीमांसा [१२वीं सदी]
[५] मल्लिषेण रचित—स्याद्वादमञ्जरी [१३ वीं सदी]

१६—*थेरावाद या प्रारम्भिक पाली बौद्धधर्म*

साधारणतया यह स्वीकार किया जाता है कि बौद्धधर्म का सब से प्राचीन रूप पाली भाषा में विद्यमान 'त्रिपिटक, में पाया जाता है। बुद्ध ने अपने धर्म या सिद्धान्तों के विषय में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के कुछ दिन बाद ही राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति (कौंसिल)हुयी,जिसमें बुद्धके उपदेशों का संग्रह किया गया। निर्वाण के लगभग ११० वर्ष बाद वैशाली में दूसरी बौद्ध संगीति हुयी,

और निर्वाण के २३६ वर्ष बाद अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति हुयी, जिनमें पाली त्रिपिटक का स्वरूप निश्चित किया गया, परन्तु उसकी परम्परा मौखिक ही रही। त्रिपिटक का वर्त्तमान लेखबद्ध स्वरूप ईसा के पूर्व प्रथम सदी में लङ्का के राजा वट्टगामणि अभय के समय में हुआ। पाली त्रिपिटक को मानने वाले ही 'थेरावादी' कहलाते हैं। पाली शब्द 'थेरा' का संस्कृत रूप 'स्थविर' है जिसरा अर्थ है 'वृद्ध' या 'आदरणीय' इस प्रकार प्राचीन बौद्ध परम्परा को मानने वाले भिक्षु 'स्थविर' या 'थेरा' कहलाते थे।

त्रिपिटक तीन प्रकार के ग्रन्थ समूहों का नाम है, पिटक=पिटारा। १ सुत्तपिटक २ विनयपिटक ३ अभिधम्मपिटक। (१) 'सुत्तपिटक' में बुद्ध के उपदेश दिये गये है जिनमें बौद्ध सिद्धान्तों का मूलस्वरूप पाया जाता है। सुत्तपिटक पांच निकायों में विभक्त है जिनके नाम-१ दीघ निकाय, २ मज्झिम निकाय, ३ संयुत्त निकाय, ४ अंगुत्तर निकाय और ५ खुद्दक निकाय हैं। 'धम्मपद' जो कि बौद्धों की गीता समझी जाती है. खुद्दक निकाय के अन्तर्गत ही है। (२) विनय पिटक में बौद्ध भिक्षुओं के लिये संयम और नियम की व्यवस्थायें की गयी हैं। (३) अभिधम्मपिटक में बौद्ध सिद्धान्तों का जो कि मूलरूप में 'सुत्तपिटक' में आगये हैं दार्शनिक विवेचन है, इस प्रकार 'अभिधम्मपिटक' बौद्ध दर्शन का आधारभूत है। पहिले दोनों पिटक,अर्थात् सुत्तपिटक और विनयपिटक प्राचीन माने जाते हैं परन्तु 'अभिधम्म' की प्राचीनता में संदेह किया जाता है।

टीका साहित्य त्रिपिटक के साथ ही पाली त्रिपिटक की व्याख्या में लिखा हुआ टीकासाहित्य है जिसे 'अट्ठ–कथा–साहित्य' अर्थात् त्रिपिटक का अर्थ कथन सम्बन्धी साहित्य या 'अनुपिटक' साहित्य भी कह देते हैं। बौद्ध

दर्शन की दृष्टि से इस टीका साहित्य के तीन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं जो थेरावाद के धर्म और दर्शन के आधारभूत समझे जा सकते हैं। इनमें से दो ग्रन्थ बुद्धघोष के हैं। ईसा की चौथी सदी में 'बुद्धघोष' का जन्म हुआ। त्रिपिटक के टीका–साहित्य में बुद्धघोष का नाम सर्वोपरि है, एक प्रकार से टीका–साहित्य या अट्ठ–कथा–साहित्य का वह प्रमुख निर्माता है।

(१) बुद्धघोष का सबसे मुख्य ग्रन्थ '*विशुद्धिमग्ग*' है जिसे एक प्रकार से थेरावाद सम्बन्धी सम्पूर्ण विद्या–विज्ञान का विश्व कोष कहना चाहिये। थेरावाद सम्बन्धी पूर्ण परिचय के लिये हमारा आधार ग्रन्थ यही है। हर्ष की बात है कि स्वर्गीय श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने इस ग्रन्थ की 'विशुद्धिमग्ग दीपिका' नामक टीका की है, जो निस्संदेह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

(२) 'विशुद्धमग्ग' तो थेरावाद सम्बन्धी सामान्य ग्रन्थ है, परन्तु थेरावाद के दर्शन और मनोविज्ञानशास्त्र से विशेषरूप से सम्बन्ध रखने वाला, ग्रन्थ '*अट्ठसालिनी*' है। अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत 'धम्मसंगणि' नामक दार्शनिक ग्रन्थ की बुद्धघोष रचित टीका का नाम ही 'अट्ठसालिनी' है।

(३) परन्तु थेरावाद सम्बन्धी बौद्धदर्शन का सर्वप्रमुख आधार ग्रन्थ अनिरुद्ध कृत '*अभिधम्मत्थसंग्रह*' है। अनिरुद्ध भी बुद्धघोष के लगभग समकालीन ही थे। हर्ष की बात है कि श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने इस आधारग्रन्थ की भी एक टीका प्रकाशित की है।

थेरावाद का सिद्धान्त—यहां तक हमने थेरावाद या प्रारम्भिक पाली बौद्धधर्म के साहित्य और विशेषकर दार्शनिक साहित्य का निरूपण किया है। इस थेरावाद के आधारभूत सिद्धान्त वही हैं जो जो मूल बौद्धधर्म के सिद्धांत

समझे जाते हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र की भूमिका में हमें उन सिद्धान्तों के विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय के लेखकों ने जहाँ शून्यवाद, विज्ञानवाद या दिङ्नाग का जगह जगह उल्लेख किया है और थोड़ा बहुत संकेत 'सर्वास्तिवाद' के सिद्धान्तों के विषय में भी किया है, वहां पाली के थेरावाद सम्बन्धी सिद्धान्तों का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं है। परन्तु फिर भी बौद्धधर्म के आधारभूत 'थेरावाद' या प्राचीन बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक ही है।

जरा और मृत्यु के रूप में दुःख को देखकर उसका कारण और नाश का उपाय ढूंढने के लिए बुद्ध घर छोड़कर निकले थे। अन्त में बोधि वृक्ष के नीचे वैशाख की पूर्णिमा के दिन उन्हें 'बोधि', तत्त्वज्ञान (enlightenment) हुआ। उसके बाद उन्होंने जगत् के सामने निम्न चार 'आर्यसत्य' प्रस्तुत किये, जो बौद्धधर्म और बौद्धदर्शन का आधार हैं :—(१) दुःख, (२) दुःख हेतु, (३) दुःख निरोध, (४) दुःख निरोध का उपाय।

जरा मृत्यु रूप दुःख संसार में प्रत्यक्ष है। बुद्ध ने दुःख का हेतु ढूंढ निकाला। 'हेतु' या 'कारण' को बुद्ध ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के रूप में बताया। 'प्रतीत्य' का अर्थ है कि 'ऐसा होने पर' (अर्थात् कार्य के प्रति कारणों के इकट्ठा होने पर) 'समुत्पाद' अर्थात् 'उत्पन्न होना'। प्रश्न यह था कि किन बातों के होने पर (१) *'जरा मरण रूप दुःख'* उत्पन्न होता है, बुद्ध ने उत्तर दिया कि (२) *'जाति'* (जन्म)के होने पर जरा मरण रूप दुःख होता है। 'जन्म' क्या होने पर होता है, बुद्ध का उत्तर था कि (३) *'भव'* अर्थात् पूर्वकालीन अस्तित्व होने पर। भव का कारण है (४) *'उपादान'* अर्थात् आसक्ति। और उपादान का कारण है (५) *'तृष्णा'* अर्थात् विषयों की कामना। और तृष्णा का कारण है (६) *'वेदना'* अर्थात् सुख दुःख

का अनुभव। इस वेदना का कारण है (७) '*स्पर्श*' अर्थात् इन्द्रिय और विषयों का संयोग। 'स्पर्श' का कारण है (८) '*षडायतन*' अर्थात् ६ इन्द्रियों के रूप में ६ स्पर्श के आधार। षडायतन का कारण है (६) '*नामरूप*' अर्थात् भौतिक और मानसिक 'स्कन्ध' (क्षणिक धाराएं)। नामरूप का कारण है (१०) '*विज्ञान*' अर्थात् चेतना अर्थात् बिना चेतना के नामरूप नहीं हो सकते। विज्ञान का कारण है (११) '*संस्कार*' अर्थात् वस्तुओं के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार, यदि संस्कार न हों तो 'विज्ञान' नहीं हो सकता। संस्कार का कारण है (१२) '*अविद्या*' अर्थात् अनादि काल से चला आता हुआ अज्ञान। इस प्रकार १२ अरों वाले इस संसार चक्र का मूल कारण अविद्या है। इसलिए वही दुःख का हेतु है, अविद्या के नाश से संसार-चक्र नष्ट हो जाता है और दुःख का नाश हो जाता है। तथा दुःखनिरोध (दुःख के नाश) की प्राप्ति होती है जो कि तीसरा आर्य सत्य है। और दुःखनिरोध का उपाय 'अष्टाङ्ग साधन' है जो कि आठ अङ्ग 'सम्यक् दर्शन' (यथार्थ तत्त्वदर्शन) और 'सम्यक् संकल्प' आदि आठ प्रकार के माने गये हैं। वे ही दुःख निरोध के उपाय रूप हैं।

इस प्रकार मूलतत्त्व 'दुःख' और 'निरोध' है। दुःख केवल जरा-मरण ही नहीं, प्रत्युत यह सारा संसार ही 'दुःख' के रूप में है। 'दुःख' गति (movement) का नाम है। इसका अर्थ यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक क्षण नष्ट होता है और उसकी जगह दूसरा पदार्थ आ जाता है। इसी अर्थ में संसार गतिशील है। परन्तु गति या परिवर्तन का यह अर्थ न समझना चाहिए कि कोई स्थिर तत्त्व है और उसमें गति या परिवर्तन होता है। प्रत्येक पदार्थ का प्रत्येक क्षण नष्ट होना और उसकी जगह दूसरी वस्तु का आ जाना ही गति है। प्रत्येक पदार्थ 'क्षणिक' है, इसका यह भी अर्थ निकलता है कि किसी पदार्थ में कोई स्थिर तत्त्व 'आत्मा' या 'द्रव्य' के रूप में नहीं,

प्रत्येक पदार्थ 'अनात्मा' है। इस प्रकार बौद्धधर्म के 'अनात्मवाद' पर हम पहुंचते हैं। (देखो परिच्छेद ४)। इस 'अनात्मवाद' का अर्थ यह है कि दृश्यमान वस्तु जो कि अनेक अवयवों में रहने वाले स्थिर द्रव्य के रूप में प्रतीत होती है, उस रूप में नहीं है, प्रत्युत उनका आधार एक क्षण के लिए प्रतीयमान वस्तु तत्त्व है, जिसे बौद्धदर्शन में 'धर्म' कहा जाता है। प्रत्येक धर्म क्षणिक है और मूलतत्त्व (primary element) है। जहां एक ओर 'दुःख' या संसार गतिशील है, वहां दूसरी ओर 'निरोध' गति-हीनता का नाम है। अर्थात् 'निरोध' गति से भिन्न 'शान्त' अवस्था है। इस प्रकार बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त तीन सूत्रों में कहे जा सकते हैं :—

(१) 'सर्वमनित्यम्'—सब अनित्य क्षणिक है।

(२) 'सर्वमनात्मम्'—सब स्थिर द्रव्य तत्त्व से शून्य है।

(३) 'निर्वाणं शान्तम्'—निर्वाण शान्त, गति या 'क्षणिकता' से शून्य अवस्था है।

बौद्धधर्म के इन मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या थेरावादियों के दार्शनिक लेखों में पाई जाती है। परन्तु वास्तविक अर्थ में दर्शनशास्त्र का विकास महायान के अन्तर्गत शून्यवाद, विज्ञानवाद, या दिङ्नाग के सम्प्रदाय में ही हुआ। थेरावादियों के दार्शनिक ग्रन्थ विशेषकर मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें 'चित्त' और 'चैतस' धर्मों का नाना प्रकार से निरूपण किया गया है। श्रीमती रीज़ डेविड्ज़ की 'बुद्धिस्ट साइकॉलोजी' (Buddhist Psychology) नामक ग्रन्थ में थेरावादियों के मनोविज्ञान का विशद विवेचन किया गया है।

२०—*सर्वास्तिवाद (वैभाषिक)*

बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ही बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय हो गए, और नाना प्रकार के सम्प्रदायों का वर्णन बौद्ध साहित्य में पाया जाता है।

इन सम्प्रदायों के अपने २ अलग धर्मग्रन्थ या त्रिपिटक थे। वर्तमान पाली त्रिपिटक और पाली में विद्यमान टीका सम्बन्धी ग्रन्थ थेरावादियों के ही हैं। अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों का पता नहीं चलता। परन्तु इन सम्प्रदायों में एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय 'सर्वास्तिवादियों' का था। 'सर्वास्तिवादी' बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनका मूल त्रिपिटक संस्कृत भाषा में था जिसका सर्वथा लोप हो गया है। परन्तु उस संस्कृत त्रिपिटक से अनुवाद किये हुए ग्रन्थ अभी तक चीनी भाषा में विद्यमान हैं। 'सर्वास्तिवादी' यह नहीं मानते कि उनका संस्कृत त्रिपिटक पाली त्रिपिटक पर आश्रित था। पाली त्रिपिटक भी कहां तक बुद्ध के मूल वचनों पर आश्रित है, इस पर आलोचक भिन्न भिन्न विचार रखते हैं। कुछ आलोचकों का विचार है कि 'मूल त्रिपिटक' किसी और रूप में था, जो कि लुप्त हो गया है और उसी पर थेरावादियों का पाली त्रिपिटक और सर्वास्तिवादियों का संस्कृत त्रिपिटक दोनों आश्रित थे। सर्वास्तिवाद का उदय बौद्धों के 'महायान' के उदय से पूर्व ही हुआ था। यद्यपि सर्वास्तिवादी 'हीनयान' के अन्तर्गत ही हैं, परन्तु उनकी भाषा 'महायान' के समान ही संस्कृत थी। कभी २ 'सर्वास्तिवाद' को हीनयान और महायान के बीच की कड़ी के रूप में भी समझा जाता है।

यहाँ पर हमें विशेष कर सर्वास्तिवादियों के दर्शनशास्त्र पर विचार करना है। दर्शनशास्त्र का आधार, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'अभिधर्मपिटक' है। 'अभिधर्मपिटक' के विषय में सर्वास्तिवादियों का थेरावादियों से एक और भी बड़ा अन्तर यह है कि थेरावादी अपने अभिधर्मपिटक को (उसके 'कथावत्थु' नामक अंश को छोड़कर) मनुष्य की रचना नहीं मानते अर्थात् बुद्ध के वचन के रूप में मानते हैं। सर्वास्तिवादी अपने अभिधर्मपिटक के भिन्न भिन्न ग्रन्थों को विशिष्ट मनुष्यों की ही रचना मानते हैं, यद्यपि वे ग्रन्थ सूत्रपिटक के अन्तर्गत बुद्ध के वचनों पर ही

निर्भर हैं। सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक के ग्रन्थों में मुख्य कात्यायनी-पुत्र का 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' माना जाता है। यह सर्वास्तिवादियों के 'विश्वकोश' (Encyclopaedia) के समान है। यह ग्रन्थ अपने मूल संस्कृत रूप में नष्ट हो चुका है, परन्तु इसका ह्यून्त्सांग कृत चीनी अनुवाद विद्यमान है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'महाविभाषा' या 'अभिधर्मविभाषाशास्त्र' भी है, जिसके कारण सर्वास्तिवादी 'वैभाषिक' (अर्थात् 'विभाषा' को मानने वाले) कहलाते हैं। वसुबन्धु का महान् ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' जो कि आधुनिक समय में न केवल सर्वास्तिवाद और वैभाषिक के विषय में, प्रत्युत अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में हमारे परिचय का मुख्य स्रोत है, इसी 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर निर्भर था। अभिधर्मकोश पर वसुबन्धु ने स्वयं भी अपनी टीका लिखी थी और दूसरी टीका यशोमित्र की लिखी है, जिसका कुछ अंश श्चेरबात्स्की द्वारा सम्पादित होकर लेनिन-ग्रेड से प्रकाशित हो चुका है। अभिधर्मकोश का डी० ला० वाली पूसिन् ने फ्रेञ्च भाषा में अनुवाद किया है। यह ग्रन्थ जो किसी समय भारत के कोने कोने में पढ़ा जाता था, दुर्भाग्य से आज मूल संस्कृत रूप में विद्यमान नहीं है। केवल उसके चीनी और तिब्बती भाषा में अनुवाद मिलते हैं। जिनके सहारे पूसिन् ने फ्रेञ्च अनुवाद किया है, परन्तु उस अनुवाद के साथ साथ ही उस प्रतिभाशाली अनुवादक ने जगह जगह टीकाओं के सहारे संस्कृत के मूलरूप को भी पुनरुज्जीवित किया है। उसी के आधार पर श्री राहुल सांकृत्यायन ने बनारस से अभिधर्मकोश की संस्कृत रूपरेखा प्रकाशित की है। एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिसमें अभिधर्मकोश के सार को 'गागर में सागर' के समान भर दिया है, श्चेरबात्स्की का 'Central Conception of Buddhism' नामक ग्रन्थ है।

मुख्य सिद्धान्त—सर्वास्तिवाद के मुख्य सिद्धान्त क्या थे? विशेष कर प्रश्न यह है कि उनका थेरावाद या प्राचीन बौद्ध सिद्धान्तों से क्या

अन्तर था, जिससे उनका नाम 'सर्वास्तिवाद' पड़ा। वैदिक सम्प्रदाय के दार्शनिक लेखक, कम से कम पिछले युग में, ऐसा समझते थे कि 'सर्वास्तिवाद' नाम विज्ञानवाद और शून्यवाद की अपेक्षा से पड़ा, अर्थात् पिछले दोनों सम्प्रदाय बाह्य पदार्थों का (भूत और भौतिक पदार्थों का) अस्तित्व नहीं मानते और सर्वास्तिवादी मानते थे। दूसरे शब्दों में उन्होंने सर्वास्तिवाद को 'बाह्यार्थवाद' (realism) के अर्थ में लिया है। शङ्कराचार्य ने भी अपने वेदान्त के शारीरक भाष्य में (२।२।१८) में ऐसा ही दिखाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के लेखकों ने शून्यवाद और विज्ञानवाद की अपेक्षा से हीनयान के पुराने थेरावादियों को और सर्वास्तिवादियों को लगभग एक ही मान लिया है। और उनका नाम 'सर्वास्तिवादी' रख दिया है। यह स्पष्ट ही है कि वे लोग 'सर्वास्तिवाद' के 'थेरावाद' आदि सम्प्रदायों से सूक्ष्म विवेचन से अनभिज्ञ थे। वस्तुतः यह स्पष्ट है कि 'सर्वास्तिवाद' नाम विज्ञानवाद और शून्यवाद की अपेक्षा से नहीं पड़ा था, प्रत्युत थेरावाद से किसी विशेष सैद्धान्तिक भेद से यह नाम पड़ा था। श्चेरबात्स्की ने इस पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। परन्तु दर्शनशास्त्र की सामान्य भूमिका के इस निबन्ध में, उसकी गहराई में जाने का अवसर नहीं है। तथापि मुख्य अन्तर की ओर संक्षिप्त संकेत कर देना भी आवश्यक ही है।

ऊपर थेरावाद के सिद्धान्त के निरूपण में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक 'धर्म' (वस्तु) केवल एक क्षण के लिए प्रतीत होता है अर्थात् केवल एक क्षण के लिए उसका अस्तित्व होता है। सर्वास्तिवादियों ने कहा कि 'धर्मों' का अस्तित्व दो प्रकार का है अर्थात् दो भिन्न २ स्तरों पर है। एक '*धर्मस्वभाव*' है और दूसरा '*धर्मलक्षण*' है। इनमें पहिला अर्थात् 'धर्मस्वभाव' भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में रहता है। परन्तु दूसरा अर्थात् 'धर्मलक्षण' धर्म का अपने क्रियाक्षम बाह्य दृश्यमान रूप में

प्रादुर्भाव है जो केवल एक ही क्षण के लिए होता है। यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार 'सर्वास्तिवाद' पर किसी स्थिर नित्य धर्म को मानने का दोष आता है जो कि बौद्ध धर्म के मौलिक मन्तव्य के विपरीत है। इसलिए दूसरे बौद्ध सम्प्रदायों ने, विशेषकर प्राचीन थेरावाद ने, सर्वास्तिवाद के इस सिद्धान्त का विरोध किया। परन्तु सर्वास्तिवाद ने इस दोष का समाधान यह दिया कि हम 'धर्मस्वभाव' को तीनों कालों में रहने वाला होने पर भी 'नित्य' नहीं मानते, क्योंकि 'नित्यता' का अर्थ है कि परिवर्तन का अभाव, परन्तु 'धर्म स्वभाव' भविष्य में किसी धर्म के बाह्य दृश्यमान अस्तित्व की सम्भावना (potentiality) का द्योतक है और उसी प्रकार 'भूतकाल' के अस्तित्व का भी द्योतक है। यह वर्तमान काल में आने की सम्भावना तीनों कालों में अर्थात् 'सर्वदा' रहती है। इस प्रकार 'सर्वास्तिवाद' का अर्थ है कि '*सर्वदास्तिवाद*,' न कि सब पदार्थों के अस्तित्व का वाद, अर्थात् बाह्यार्थवाद (realism)। और क्योंकि यह दृश्य बाह्यरूप में प्रकट होने की सम्भावना तीनों कालों में विद्यमान होने पर भी 'स्थिरता' या 'नित्यता' को द्योतित नहीं करती प्रत्युत परिवर्तन को ही द्योतित करती है, इसलिए 'धर्मस्वभाव' तीनों कालों में रहनेवाला होने पर भी 'नित्य' नहीं कहा जा सकता[1]। सर्वास्तिवाद का यह सिद्धान्त और उसका उपर्युक्त समाधान बौद्धधर्म के सामान्य क्षणिक सिद्धान्त से कहां तक संगत हो सकता है, यह प्रश्न बना ही रहता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक धर्म को क्षणिक मानकर भी मानवस्वभाव में साधारणतया प्रत्येक वस्तु को भूत और भविष्य में भी सोचने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी का यथाकथञ्चित् समाधान सर्वास्तिवादी वैभाषिकों ने किया था। कई बार सर्वास्तिवाद को बाह्यार्थवाद के रूप में समझ कर, जैसा कि

---

1. *इस विषय के विशेष अध्ययन के लिए देखो श्चेरबात्स्की का ग्रन्थ*—Central Conception of Buddhism (*पृ० ३७-४३*)।

शङ्कराचार्य आदि ने समझा था, सौत्रान्तिकों को भी सर्वास्तिवादी समझ लिया जाता है। परन्तु यह भूल है, क्योंकि सर्वास्तिवाद के 'धर्मस्वभाव' सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्त का जिसके कारण उसका नाम 'सर्वास्तिवाद' पड़ा, सौत्रान्तिकों ने भी विरोध किया था, ऐसा 'अभिधर्मकोश' के अध्ययन से पता चलता है [1]। इसलिए सौत्रान्तिकों का जो कुछ भी स्वरूप हो, पर उन्हें सर्वास्तिवादी नहीं कहा जा सकता।

<u>*प्रत्यक्ष की प्रक्रिया*</u>—यहां एक और बात की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। बाह्य पदार्थ और उनके प्रत्यक्ष के विषय में सर्वास्तिवाद के मुख्य सम्प्रदाय वैभाषिकों के सिद्धान्त का जैसा निरूपण सर्वदर्शनसंग्रह आदि ग्रन्थों में किया गया है वह सर्वथा भ्रमपूर्ण है। सर्वदर्शनसंग्रह में वैभाषिक के सिद्धान्त को 'बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद' कहा है अर्थात् उसके अनुसार बाह्य वस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। इसलिये वैदिक दर्शनसम्प्रदाय के लेखक बहुधा यह समझ लेते हैं कि वैभाषिक के अनुसार बाह्य वस्तुओं का उसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है जैसा कि न्याय–वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार होता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुओं को क्षणिक और अद्रव्य मानने वाले मत में बाह्य वस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष मानना सम्भव ही नहीं। पता नहीं वैभाषिक के मत का 'बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद' के रूप में वर्णन सर्वदर्शनसंग्रहकार ने किस आधार पर किया। यह तो स्पष्ट ही है कि सर्वदर्शनसंग्रहकार या उस युग के (१४ वीं सदी के आस-पास के) अन्य वैदिक दर्शन-सम्प्रदायों के लेखक वैभाषिकों के आधार-ग्रन्थ अभिधर्मकोश से सर्वथा अपरिचित थे। वस्तुतः अभिधर्मकोश के अनुसार वैभाषिकों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया जिसे श्चेरबात्स्की ने बड़े स्पष्ट रूप से दिखाया है इस प्रकार होगी :—

---

1. *ऊपर वाली किताब पृ० ४१।*

रूप का (विषय का) एक 'क्षण', दर्शनेन्द्रिय तत्त्व (चक्षु) का एक 'क्षण' और शुद्ध चेतना (विज्ञान) का एक 'क्षण'—यह तीनों एक साथ एक जगह (आसन्न) जब प्रकट होते हैं तब 'रूप संवेदन' (रूप का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) होता है। 'चेतना' या 'विज्ञान' (Conciousness) कभी अकेली प्रकट नहीं होती प्रत्युत विज्ञान के क्षण के साथ, विषय क्षण एक स्थिर नियम के अनुसार प्रकट होता है[1]।

यह स्पष्ट है कि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष के इस स्वरूप को 'बाह्यार्थ-प्रत्यक्षत्ववाद' नहीं कहा जा सकता, सर्वदर्शनसंग्रहकार ने जहाँ एक ओर वैभाषिक के सिद्धान्त को 'बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद' कहा है, वहाँ दूसरी ओर वैभाषिक के प्रत्यक्ष के स्वरूप-निरूपण में धर्मकीर्त्ति का प्रत्यक्ष-लक्षण 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्' उद्धृत कर दिया है, पता नहीं, धर्मकीर्त्ति (या दिङ्नाग) को वैभाषिक कैसे मान लिया ? और फिर इस पर भी ध्यान नहीं दिया कि दिङ्नाग सम्प्रदाय में जिसका मानने वाला धर्मकीर्त्ति भी था, यद्यपि 'स्वलक्षण' रूप क्षण का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना गया है पर वह तो अलौकिक (transcendental) तत्त्व है, और दृश्यमान बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष जिसे न्याय-वैशेषिक सविकल्पक प्रत्यक्ष मानते हैं, वह दिङ्नाग के सिद्धान्त में 'प्रत्यक्ष' ही नहीं माना जाता। ऐसी दशा में धर्मकीर्त्ति के दिये हुये प्रत्यक्ष के लक्षण को वैभाषिक का लक्षण मानकर तो उस मत को बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद कहना और भी बड़ी भूल है। अभिधर्मकोश के अनुसार भी, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, क्षणिक बाह्य विषय का केवल 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' रूप संवेदन होता है, न कि न्याय–वैशेषिक के सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य रूप से दृश्यमान बाह्य वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष।

---

1. *श्चेरबात्स्की* : Central Conception of Buddhism पृ०५५।

सर्वास्तिवाद और बाह्यार्थवाद— यथार्थ बात तो यह है कि सर्वास्तिवादी वैभाषिक को न्याय-वैशेषिक के समान बाह्यार्थवादी (realist) भी नहीं कहा जा सकता। प्रोफेसर रोज़ेनवर्ग की रूसी भाषा में लिखी, 'Problems of Buddhist Philosophy' नामक पुस्तक का हवाला देते हुये और उस विद्वान् लेखक के विचारों को उद्धृत करते हुये श्चेरबात्स्की ने वैभाषिक सिद्धान्त के विषय में लिखा है:-

जो कुछ भी हो उसका अपना एक विशेष प्रकार का सिद्धान्त है जो कि साधारण बाह्यार्थवाद (realism) से सर्वथा भिन्न है, प्रत्युत कुछ आधुनिक मतों से मिलता है जिन में बाह्य और आन्तरिक (मानसिक) दोनों प्रकार की घटनाओं के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और उनके बीच में एक विशेष प्रकार का सामञ्जस्य (co-ordination) माना गया है, परन्तु यह नहीं माना गया कि उनमें एक दूसरी को (अर्थात् आन्तरिक विज्ञान बाह्यवस्तु को) ग्रहण करती है। सारे विश्व का चलचित्र के रूप में (cinematographie) यह निरूपण और आन्तरिक तथा बाह्य जगत् की सारी घटनाओं को, जिनसे एक व्यक्ति की जीवन-धारा बनी हुई है, क्षण भर के लिये झलकने वाले तत्त्वों के परस्पर सम्बद्ध जटिल घटना-चक्र के रूप में बदल देना— इसको किसी प्रकार भी बाह्यार्थवाद (realism) नहीं कहा जा सकता[1]।

---

1. "It has, in any case, a position of its own, very far from ordinary realism resembling perhaps to some modern theories which accept the reality of external as well as internal facts, and a certain "co-ordination" between them without the one grasping the other. The cinematographic representation of the world and the converting of all the facts of the inner and outer world composing an individual stream of life into a complex

इसका सार यह है कि साधारणतया बाह्यार्थवाद (realism) में यह माना जाता है कि बाह्यजगत् में पदार्थों का पूर्व से अस्तित्व है और उन्हें हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ग्रहण करते है। परन्तु वैभाषिक के सिद्धान्त में 'बाह्य वस्तु' का क्षण और ज्ञान का क्षण साथ-साथ उत्पन्न होते हैं और उनमें किसी प्रकार से सामञ्जस्य (co-ordination) हो जाता है। इस प्रकार वैभाषिक का प्रत्यक्ष सिद्धान्त और बाह्यवस्तु सम्बन्धी सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के समान बाह्यार्थवादी से सर्वथा भिन्न है।

२१. *तथाकथित सौत्रान्तिक दर्शन सम्प्रदाय*

बौद्धों का सौत्रान्तिक एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऊपर के परिच्छेद में यह बताया गया है कि जब वैभाषिकों ने 'धर्मस्वभाव' के रूप में धर्म को तीनों कालों में मानकर 'सर्वदास्तिवाद' (सर्वास्तिवाद) का प्रतिपादन किया तो सौत्रान्तिकों ने उसका विरोध किया, यह भी पता चलता है कि अभिधर्मकोश यद्यपि वैभाषिकों का ग्रन्थ है, पर उसके निर्माता वसुबन्धु का बहुत कुछ झुकाव सौत्रान्तिकों की ओर था, उसने अपने वैभाषिक ग्रन्थ में जगह-जगह सौत्रान्तिकों के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। अभिधर्मकोश का प्रसिद्ध व्याख्याकार यशोमित्र तो स्पष्ट रूप से सौत्रान्तिक था ही। यह भी परम्परा के अनुसार स्पष्ट ही है कि वैभाषिकों ने अपने सिद्धान्त का आधार सौत्रान्तिकों के अभिधर्म अथवा उसके मूलग्रन्थ 'अभिधर्मविभाषाशास्त्र' को बनाया। 'विभाषा' का अर्थ है टीका, और अभिधर्म एक प्रकार से 'सूत्रपिटक' की टीका के रूप में है, क्योंकि बुद्ध का मूल उपदेश सूत्रपिटक में ही पाया जाता है, इसलिये जब एक सम्प्रदाय ने 'विभाषा' अर्थात् टीका को

---

play of interconnected momentary flashes, is anything but realism." Stcherbatsky : Central Conception p. 65.

आधार मानने का विरोध कर यह कहा कि हमें अपने सिद्धान्तों को समझने के लिये 'सूत्र' तक पहुंचना चाहिये तो वह सम्प्रदाय 'सौत्रान्तिक' कहलाया। इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्धों की परम्परा में 'सौत्रान्तिक' एक विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय था।

परन्तु हमारी कठिनता यह है कि 'बाह्यार्थानुमेयत्ववाद' या 'नित्यानुमेयबाह्यार्थवाद' जो कि सौत्रान्तिक का विशेष सिद्धान्त सर्व-दर्शनसंग्रह तथा दूसरे पिछले काल के वैदिक-दर्शन के लेखकों ने माना है, (देखो परि० ७), वह बौद्धदर्शन के मूलग्रन्थों में कहीं भी नहीं पाया जाता। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि सौत्रान्तिक का मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त क्या था, इसीलिये सौत्रान्तिक सम्प्रदाय को भारतीय प्रमुख दर्शनो में स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु कुछ लेखक दिङ्नाग सम्प्रदाय को ही 'सौत्रान्तिक' मानते हैं। उदाहरणार्थ डा० सत्करी मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'Universal Flux' में दिङ्नाग सम्प्रदाय को ही 'सौत्रान्तिक' सम्प्रदाय माना है। श्चेरबात्स्की ने दिङ्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक या 'सौत्रान्तिक-योगाचार' लिखा है। वर्तमान लेखक ने अपने एक लेख 'The Sautrantika Theory of Knowledge' (देखो फुट-नोट पृ० १६) में यह दिखाया है कि दिङ्नाग सम्प्रदाय में शुद्ध प्रत्यक्ष केवल 'स्वलक्षण' का होता है, परन्तु घट पट आदि दृश्यमान पदार्थों का जो कि 'सामान्यलक्षण' पदार्थ माने गये हैं 'सविकल्पक' ज्ञान माना जाता है। और व्यापक अर्थ में 'सविकल्पक' ज्ञान भी अनुमान के अन्तर्गत आ जाता है, इसलिये उस अर्थ में बाह्य पदार्थों को 'अनुमेय' भी कहा जा सकता है यद्यपि यह 'अनुमेय' होना उस प्रकार का नहीं है जैसा कि सर्वदर्शनसंग्रह में सौत्रान्तिक के मतानुसार दिखाया गया है जो कि लॉक के सिद्धान्त से मिलता है। इस प्रकार एक विशेष अर्थ में दिङ्नाग के सिद्धान्त में भी बाह्य अर्थ अनुमेय हो जाते हैं और कदाचित्

उस दृष्टि से दिङ्नाग सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक माना गया हो। परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं,(देखो परि० ६), दिङ्नाग सम्प्रदाय न्यायवादी बौद्ध सम्प्रदाय माना जाता है, और उसका 'सौत्रान्तिक' होना निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं जैसा कि ऊपर कहा है सर्वदर्शन-संग्रह ने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष के लक्षण को वैभाषिक के मत के अन्तर्गत देते हुये दिङ्नाग सम्प्रदाय को वैभाषिक माना है। एक कठिनता और भी है दिङ्नाग सम्प्रदाय महायान के अन्तर्गत है और सौत्रान्तिक हीनयान के अन्तर्गत समझा गया था। ऐसी दशा में हम ने 'सौत्रान्तिक' को मुख्य दर्शन विभागों में नहीं रक्खा, और दिङ्नाग सम्प्रदाय को एक अलग सम्प्रदाय के रूप में दिखाया है।

२२. *नागार्जुन का शून्यवाद*

शून्यवाद साहित्य—कालक्रम की दृष्टि से सर्वास्तिवाद के बाद नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन या शून्यवाद आता है। शून्यवाद के साथ ही बौद्ध इतिहास में 'महायान' युग प्रारम्भ होता है। अथवा यह कहा जा सकता है 'महायान' रूप में हुये बौद्ध धर्म के नये विकास का ही दार्शनिक पहलू शून्यवाद है। महायान सम्प्रदाय वाले बौद्ध थेरावादियों के पाली त्रिपिटक को नहीं मानते। सर्वास्तिवादियों के समान महायान का अपना कोई अलग त्रिपिटक नहीं है। परन्तु ६ महायान सूत्र जो ६ '*धर्म*' कहे जाते हैं और जिन्हें 'वैपुल्यसूत्र' भी कहते हैं, महायान सम्प्रदाय के आधार भूत ग्रन्थ हैं। यहां 'धर्म' शब्द 'धर्मपर्याय' शब्द का संक्षेप मात्र है 'धर्मपर्याय' का अर्थ है धर्मसम्बन्धी ग्रन्थ। निम्नलिखित ६ 'धर्म' महायान सम्प्रदाय में स्वीकार किये गये हैं:—

(१) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता।

(२) सद्धर्मपुण्डरीक।

(३) ललितविस्तर।

(४) लङ्कावतार या सद्धर्मलङ्कावतार ।

(५) सुवर्णप्रभास ।

(६) गण्डव्यूह ।

(७) तथागत गुह्यक या 'तथागत गुणज्ञान' ।

(८) समाधिराज ।

(९) दशभूमीश्वर ।[1]

इनमें से लङ्कावतार सूत्र में शून्यवाद और विज्ञानवाद का मिला-जुला सा वर्णन पाया जाता है। परन्तु शून्यवाद के दार्शनिक रूप का प्रवर्त्तक प्रथम आचार्य नागार्जुन को माना जाता है। भारतीय इतिहास के सब से महान् गिने चुने दार्शनिकों में नागार्जुन का मूर्द्धन्य स्थान है। सम्भवतः वह कनिष्क के समय में हुआ यद्यपि निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उस की तिथि ईसा की द्वितीय शताब्दी से पहिले ही होगी, क्योंकि गोतम के न्यायसूत्रों में शून्यवाद का खण्डन किया गया है, और न्यायसूत्रों की तिथि ईसा की तृतीय सदी के बाद रखना सम्भव नहीं है। नागार्जुन का मूल ग्रन्थ जिसमें शून्यवाद की स्थापना की गयी '*माध्यमिककारिका*' या 'माध्यमिकसूत्र' है। इस में सूत्र के समान संक्षिप्त ४०० कारिकाओं में दार्शनिक विषय का प्रतिपादन किया गया है। सारे संस्कृत साहित्य में सूत्र रूप कारिका प्रणाली का प्रथम प्रवर्त्तक नागार्जुन ही प्रतीत होता है। पीछे इसी शैली का कुमारिल आदि ने अनुसरण किया । इन कारिकाओं पर स्वयं नागार्जुन ने 'अकुतोभया' नामक टीका लिखी थी जो इस समय मूल संस्कृत रूप में अप्राप्य है। इस समय चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा टीका ही कारिकाओं के समझने में हमारा आधार है और वह महत्त्वपूर्ण टीका है। स्वतः

---

1. *इन ९ ग्रंथों के विषय में विस्तृत परिचय के लिये देखो* Winternitz: History of Indian Literature vol. 11. पृ० २९४ और आगे।

चन्द्रकीर्त्ति का बौद्ध दार्शनिक साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। हर्ष की बात है कि नागार्जुन की माध्यमिक कारिका 'मूलमाध्यमिककारिका' के नाम से चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा टीका सहित डी० ला० वाली पूसिन् द्वारा सम्पादित होकर लेनिनग्रेड (पेट्रोग्रेड) की 'बिब्लोथिका बुद्धिका सीरीज़' में प्रकाशित हो चुकी है। नागार्जुन के छोटे मोटे अनेक ग्रन्थ हैं उनमें 'विग्रहव्यावर्त्तनी' महत्त्वपूर्ण है जो कि प्रकाशित हो चुका है।

नागार्जुन के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम माध्यमिक या शून्यवाद सम्प्रदाय में 'आर्यदेव' का है। वह नागार्जुन का शिष्य और उत्तराधिकारी था। उसका मुख्य ग्रन्थ 'चतुःशतक' है जिसमें 'माध्यमिककारिका' के समान ही ४०० कारिका हैं। पहिले पहल महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने मूलग्रन्थ का सम्पादन कर उसे प्रकाशित किया था।

आधुनिक काल के पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने माध्यमिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों और सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्चेरबात्स्की का 'Conception of Buddhist Nirvana' है, जो लेनिनग्रेड से १९२७ में प्रकाशित हुआ था। इसमें माध्यमिक शून्यवाद के सिद्धान्तों का बहुत सुन्दर संक्षिप्त निरूपण किया गया है। साथ ही परिशिष्ट के रूप में माध्यमिककारिका के महत्त्वपूर्ण दो भागों का अर्थात् प्रथम और पच्चीसवें का छन्दोबद्ध अंग्रेजी अनुवाद किया है और इन्हीं अंशों की प्रसन्नपदा टीका का भी अंग्रेजी में अनुवाद दिया है[1]।

शून्यवाद का सिद्धान्त—शून्यवाद के आधारभूत ग्रन्थों के विषय

---

1. *अभी हाल में डा० टी० आर० वी० मूर्ति ने जो इस समय हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शनशास्त्र के अध्यापक हैं* 'Madhyamika Dialect' *नाम से माध्यमिक सिद्धान्त पर एक विस्तृत आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा है जो कि शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।*

में अति संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब प्रश्न उठता है कि 'शून्यवाद' का मुख्य सिद्धान्त क्या था। सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार शून्यवाद का अर्थ 'सर्वशून्यत्ववाद' है। अर्थात् बाह्य और मानस कोई भी तत्त्व नहीं। सर्वदर्शनसंग्रह ने शून्यवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि संसार के पदार्थ (घट पट आदि) 'सत्' नहीं हो सकते क्योंकि यदि सत् होना उनका स्वभाव है तो उनके बनाने वाले कारकों का व्यापार व्यर्थ होगा, क्योंकि वे तो स्वभाव से ही सत् हैं, और उन्हें बनाने की आवश्यकता ही नहीं। और न उन पदार्थों को 'असत्' ही कह सकते हैं, क्योंकि यदि 'असत्' होना ही उनका स्वभाव ही है तो कारकों का व्यापार व्यर्थ है, क्योंकि वे अपने असत् स्वभाव को तो छोड़ ही नहीं सकते, और न पदार्थों का स्वभाव 'सत्' और 'असत्' उभयात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें परस्पर विरोध है, और न पदार्थों का स्वरूप अनुभयात्मक अर्थात् 'सत्' और 'असत्' दोनों से भिन्न कहा जा सकता है क्योंकि उसमें भी परस्पर विरोध है। इस प्रकार (i) सत् (ii) असत् (iii) सदसत् (iv) न सत् न असत्, इन चारों कोटियों से भिन्न (चतुष्कोटिविनिर्मुक्त) पदार्थों का स्वभाव 'शून्य' रूप है।

बौद्ध दर्शन के इतिहास की पृष्ठभूमि में यदि इस सिद्धान्त को रक्खें तो स्पष्ट हो जायगा कि हीनयान के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों ने—थेरावाद और सर्वास्तिवाद ने—द्रव्य, अवयवी या आत्मा (जिसके लिये बौद्ध शब्द 'पुद्गल' है) का निषेध कर प्रत्येक क्षण आविर्भूत होने वाले धर्मों की अनन्तता (plurality) मानी थी। उसके अनुसार यद्यपि आत्मा, द्रव्य, अवयवी या पुद्गल असत् है परन्तु क्षणिक 'धर्म' सत् हैं, यथार्थ (real) हैं। परन्तु शून्यवाद एक पग आगे जाता है, वह कहता है 'धर्म' भी वस्तुतः असत् ही हैं। शून्यवाद अकाट्य तर्कों से स्थापित करता है कि 'कारण' 'द्रव्य' आदि का कोई भी विचार बुद्धि से परीक्षा करने पर

ठहरता ही नहीं। महायान के आधार ग्रन्थ लङ्कावतार में कहा है कि 'ज्यों-ज्यों वस्तुओं पर विचार करते हैं उनका तत्त्व उड़ता जाता है'[1]। हीनयान के दर्शन ने 'अनात्मवाद और 'अद्रव्यवाद' की स्थापना की। 'महायान' के दर्शन शून्यवाद ने 'धर्मनैरात्म्य' या 'धर्मशून्यता' की स्थापना की। कारणवाद के क्षेत्र में 'हीनयान' ने वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के कारणवाद का निराकरण किया था। उसने बताया था कि न तो यह सम्भव है कि कार्य अपने से ही (अर्थात् अपनी पहिली अवस्था से) उत्पन्न होता हो जैसा कि सांख्य मानता है क्योंकि उस के अनुसार तन्तु पट की ही पहिली अवस्था है; और न यही सम्भव है कि कार्य दूसरी वस्तु से उत्पन्न होता हो जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानता है क्योंकि उस के अनुसार 'पट' से 'तन्तु' भिन्न वस्तु है। पुराने बौद्ध दर्शन ने इस प्रकार यह दिखा कर कारण से कार्य का बनना सम्भव नहीं, 'प्रतीत्य-समुत्पाद' की स्थापना की थी जिस के अनुसार कारणों के होने पर कार्य होता है; परन्तु कारणों से उत्पन्न नहीं होता। परन्तु 'शून्यवाद' के रूप में हुयी नवीन दार्शनिक क्रान्ति ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को एक पग आगे बढ़ाया। 'ऐसा होने पर' (कारण के होने पर) 'यह' (कार्य) उत्पन्न होता है, इस का अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु पर सापेक्ष है अर्थात् उसका 'स्वभाव' या 'स्वरूप' या 'सत्त्व' दूसरी पर अपेक्षित है। उस वस्तु का अपना 'स्वभाव' या 'सत्त्व' कुछ भी नहीं, इस प्रकार प्रत्येक वस्तु दूसरी पर सापेक्ष होने के कारण 'निःस्वभाव 'स्वरूपशून्य' अथवा 'शून्य' है। 'शून्यवाद' के अनुसार 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ है वस्तुओं की 'परस्पर सापेक्षता' (relativity) = निःस्वभावता अर्थात् 'शून्यता'। और इस सापेक्षता के सिद्धान्त से हीनयान युग में मूल तत्त्वों (primary

1. *यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा।* लङ्कावतार का श्लोक—*सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत।*

elements) के रूप में माने हुये 'धर्म' भी बचे नहीं रहे। अर्थात् वे धर्म भी 'निःस्वभाव' और शून्य माने गये।

शून्यवाद 'Nihilism' नहीं—प्रश्न यह होता है कि वस्तु तत्त्व का सर्वथा लोप करके सम्पूर्ण विश्व को 'निःस्वभाव' और 'शून्य रूप' से स्थापित करने वाला यह सिद्धान्त क्या सर्वथा निषेधवाद (Nihilism) के रूप में है ? बहुत दिन न केवल पाश्चात्य जगत् में प्रत्युत पिछले युग के वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों में भी ऐसा ही समझ लिया गया था। परन्तु एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि शून्यवाद-महायान इस प्रकार के सर्वसंहारक निषेध को लेकर प्रवृत्त हुआ तो, उस में वह ज्वलन्त सजीव धर्म-भावना कहां से आ गयी जिससे बौद्ध धर्म मध्य एशिया, चीन, जापान, मङ्गोलिया और कोरिया तक छा गया, जिस के प्रभाव से आत्मोत्सर्ग के हृदयस्पर्शी दृष्टान्तों से बौद्ध अवदान साहित्य ओत प्रोत हो रहा है जिस की प्रेरणा से 'प्रत्येक बुद्ध' की जगह 'बोधिसत्त्व'[1] के आदर्श ने ली और हीनयान के निर्वाण प्राप्त अभावात्मक बुद्ध ने गान्धार कला में निरन्तर प्रेरणा और स्फूर्ति देने वाला

---

1. *'प्रत्येक बुद्ध' या 'पच्चेक बुद्ध' हीनयान का आदर्श था जिस के अनुसार मनुष्य 'केवल अपने लिये' बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है। वह किसी को उपदेश देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता, और यह भी हो सकता है कि उसने भी किसी से उपदेश न लिया हो। इसके स्थान पर महायान ने 'बोधिसत्त्व' का आदर्श स्थापित किया 'बोधिसत्त्व' विश्व की कल्याण-कामना से ओत प्रोत है और वह केवल अपनी अकेली मुक्ति पाने के लिये साधना नहीं करता।*

सजीव मूर्त्त आकार[1] ग्रहण किया। इस प्रश्न का उत्तर श्चेरबात्स्की के समान पाश्चात्य मनीषियों ने दिया जिन्होंने शून्यवाद के रहस्य को समझा। शून्यवाद का सिद्धान्त केवल 'निषेधात्मक' नहीं है। सारे दृश्यमान जगत् को परस्पर सापेक्ष और निःस्वभाव शून्य बताने वाला शून्यवाद एक निरपेक्ष (Absolute) तत्त्व की ओर निर्देश करता है। महायान शून्यवाद के अनुसार यह जगत् 'निःस्वभाव है' 'शून्य है' इस का अर्थ यह है कि इसका यथार्थ तत्त्व 'शून्य' है, वह 'शून्य' ही निरपेक्ष परम और यथार्थ सत्य है। वह 'शून्य' ही निर्वाण या 'बुद्ध' के रूप में है। शून्यवादी महायान के मत में 'बुद्ध' 'निर्वाण' या 'शून्य' यह सब उसी प्रकार पर्यायवाची शब्द हैं जिस प्रकार अद्वैतवाद वेदान्ती के मत में 'ब्रह्म' 'मोक्ष' 'ब्रह्मज्ञान' आदि पर्याय-वाची शब्द हैं। वेदान्ती का निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) ब्रह्म एक स्थिर नित्य द्रव्य के रूप में है, महायान अपने 'निरपेक्ष तत्त्व' का उस प्रकार का निरूपण नहीं करता, परन्तु निरपेक्ष तत्त्व को दोनों ही समान रूप से मानते हैं। जिस प्रकार वेदान्त में ब्रह्म का 'आनन्द-मय' स्वरूप है उसी प्रकार महायान में निरपेक्ष बुद्धतत्त्व का *'संभोगकाय'* स्वीकार किया गया है। यथार्थ तो यह है कि वेदान्त के अद्वैतवाद को नागार्जुन के शून्यवाद से ही वास्तविक स्फूर्ति मिली है। वेदान्त 'अद्वैत-तत्त्व' की स्थापना करने के लिये सत्ता का निरूपण पारमार्थिक और व्यावहारिक दो स्तरों पर करता है। 'सत्ता' के इन दो प्रकार के स्तरों का

1, *मौर्य और शुङ्ग कला में जो कि हीनयान युग की है 'बुद्ध की मूर्ति नहीं बनाते थे'। किन्तु गान्धार कला में जो कि यूनानी कला के सौन्दर्य के आदर्श से प्रभावित है और भारतीय भावना से ओत प्रोत है, बुद्ध की अत्यन्त सुन्दर प्रभावोत्पादक प्रतिमायें बनायी गयीं।*

भेद भारतीय दर्शन में सबसे पहिले नागार्जुन ने ही किया था, यह स्पष्ट है। उसने सत्ता को संवृति सत्य और परमार्थ सत्य इन दो रूपों में माना। बाह्य दृश्यमान जगत् की संवृति सत्यता है, परन्तु परमार्थ सत्यता 'निरपेक्ष शून्य' की ही है। इस प्रकार दो सत्य हैं, एक संसार जो संवृति रूप सत्य है और एक 'शून्य' जो परमार्थ सत्य है। हीनयान के सर्वथा अभावात्मक निर्जीव 'निर्वाण' की जगह महायान 'निरपेक्ष' तत्त्वरूप परम सत्य 'निर्वाण' की स्थापना करता है और वह निर्वाण तथा बुद्ध एक ही तत्त्व है।

संसार को निःस्वभाव स्थापित करने के लिये महायान-शून्यवाद तर्क का सहारा लेता है। परन्तु परम सत्य 'शून्य' का साक्षात्कार (realization) तर्क से नहीं हो सकता वह तो एक अलौकिक 'ज्ञान' से ही हो सकता है जिसे 'प्रज्ञा-पारमिता' कहा गया है। इसी के आधार पर 'प्रज्ञा-पारमिता' नामक महायान के मूल ग्रन्थों का निर्माण हुआ था।

२३—*योगाचार का 'विज्ञानवाद'*

योगाचार का साहित्य : कालक्रम के अनुसार माध्यमिक शून्यवाद के पश्चात् बौद्ध दर्शन में योगाचार के विज्ञानवाद का स्थान है। विज्ञानवाद का प्रवर्त्तक आर्यासङ्ग या असङ्ग माना जाता है, जिसका छोटा भाई वसुबन्धु था। यह दोनों भाई पेशावर के रहने वाले थे। वसुबन्धु पहिले सर्वास्तिवादी था परन्तु असङ्ग के प्रभाव से वह 'विज्ञानवादी' योगाचार हो गया था। यह किम्वदन्ती चली आती है कि मैत्रेय ने जो कि भविष्य में होने वाले बुद्ध का नाम है 'तुषित' नामक स्वर्ग में असङ्ग पर कई ग्रन्थ प्रकट किये, जिनका रचयिता असङ्ग समझा जाता है। परन्तु वास्तविक तथ्य यह प्रतीत होता है कि 'मैत्रेयनाथ' एक ऐतिहासिक व्यक्ति था जो कि असङ्ग का गुरु था और मैत्रेयनाथ ही वस्तुतः विज्ञानवाद का प्रवर्त्तक था। 'अभिसमयालङ्कारकारिका' जिसका दूसरा नाम 'प्रज्ञापारमितोपदेश' भी है, मैत्रेयनाथ का बनाया हुआ ही ग्रन्थ है। इसी प्रकार महायान सूत्रालङ्कार जिसे सिल्वेन लेवी ने ढूँढा था और असङ्ग की रचना बताया, वह भी मैत्रेयनाथ का ही ग्रन्थ है। उपर्युक्त मैत्रेयनाथ के ग्रन्थों के सिवाय

जो भूल से असङ्ग के ग्रन्थ समझे जाते हैं, 'महायान-संपरिग्रह' आदि असङ्ग के ग्रन्थ हैं जो कि मूल संस्कृत में नष्ट हो चुके और केवल चीनी अनुवाद में विद्यमान हैं। परन्तु जहाँ तक दार्शनिक विज्ञानवाद है, उसके विषय में प्रकाश डालने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में दो ग्रन्थ सम्मिलित हैं, एक तो 'विंशतिका' जिस पर स्वयं वसुबन्धु की टीका है और दूसरी 'त्रिंशिका' जिस पर स्थिरमति की टीका है। इन दोनों का सिल्वेन लेवी ने पता लगाया। पेरिस से यह दोनों ग्रन्थ 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के नाम से संस्कृत रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। विज्ञानवाद के और भी अनेक ग्रन्थों का पता चल चुका है, परन्तु फिर भी आधुनिक समय में विज्ञानवाद के सिद्धान्तों के समझने का हमारा मुख्य स्रोत वैदिक दार्शनिक लेखक ही हैं। शङ्कर ने विज्ञानवाद का खण्डन करते हुये उसका निरूपण किया है, जो कि वाचस्पति की भामती टीका में और भी विशद रूप से मिलता है। इसके सिवाय वेदान्त के अनेक ग्रन्थों में विज्ञानवाद का निरूपण है। सर्वदर्शनसंग्रह से भी विज्ञानवाद के विषय में पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। विज्ञानवाद के प्रारम्भ होने के समय के विषय में संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि वह समय संभवतः ईसा की चौथी शताब्दी हो सकता है जो कि असङ्ग और वसुबन्धु का समय है।

विज्ञानवाद और शून्यवाद: माध्यमिक ने बाह्य और आन्तर (मानस) दोनों प्रकार के धर्मों का निषेध किया था। परन्तु योगाचार ने कहा कि 'स्वसंवेदन' अर्थात् 'हमें ज्ञान होता है' इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसा यथार्थ सत्य है जिसको स्वीकार करना ही पड़ता है। इसके बिना संसार की वस्तुओं का व्यावहारिक अस्तित्व भी नहीं रहेगा। धर्मकीर्त्ति[1] ने कहा कि 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति' अर्थात् जो ज्ञान का भी प्रत्यक्ष या संवेदन स्वीकार नहीं करता

1. *धर्मकीर्त्ति यद्यपि विज्ञानवादी योगाचार नहीं था, अपितु वह दिङ्नाग सम्प्रदाय का न्यायवादी था, परन्तु उसका उपर्युक्त वाक्य विज्ञान-*

उसके लिये वस्तुओं का ज्ञान भी सम्भव नहीं। इसलिये ज्ञान का प्रत्यक्ष और ज्ञान की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, यह योगाचार के दर्शन का आधारभूत तर्क है। पाश्चात्य दर्शन के ज्ञान-सिद्धान्त-सम्बन्धी (epistemological) प्रवृत्ति के प्रवर्त्तक फ्रेञ्च दार्शनिक डेकार्टे के तर्क का भी यही आधार है: 'Cogito ergo sum' अर्थात् 'मैं जानता हूँ इसलिये मैं हूँ'। संसार की प्रत्येक घटना या वस्तु के विषय में संदेह किया जा सकता है, परन्तु 'ज्ञाता' (आत्मा) के अस्तित्व के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता। योगाचार के मत में केवल 'आत्मा' की जगह 'ज्ञान' आ जाता है, इसलिये दोनों का तर्क समान ही है।

बाह्य जगत् का खण्डन : इस प्रकार के ज्ञान के संवेदन को और 'ज्ञान के अस्तित्व' को आधारभूत मानकर योगाचार बाह्य वस्तुओं का खण्डन करता है। मूल युक्ति लगभग वही है जो कि पाश्चात्य दर्शन में विज्ञानवाद (subjective idealism) की स्थापना करने वाले बार्कले ने दी थी। अर्थात् जब हम प्रत्यक्ष से 'नील' को देखते हैं तो 'नील' और उसका 'प्रत्यक्ष' ये दो वस्तु अलग अलग तो प्रतीत होती नहीं। उनकी कभी भी अलग अलग प्रतीति न होने से अर्थात् उन दोनों की सदा साथ-साथ ही प्रतीति होने से यह पता चलता है कि वे दोनों एक ही वस्तु हैं (सहोपालम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः), क्योंकि जो दो वस्तु अलग अलग होती हैं उनका कभी न कभी अलग भी ज्ञान होना ही चाहिये। और ऐसा होता नहीं, इसलिये वे दोनों एक ही वस्तु हो सकती हैं, और क्योंकि 'ज्ञान' को मानना आवश्यक है जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसलिये 'नील का ज्ञान' ही यथार्थ वस्तु है न कि नील वस्तु। योगाचार और पाश्चात्य दार्शनिक बार्कले दोनों ने ही बाह्य जगत् के खण्डन में समान रूप से यही युक्ति दी है। परन्तु यह एक अद्भुत घटना है कि दोनों के साथ-

---

वादी तर्क की पुष्टि में सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत किया गया है। दिङ्नाग सम्प्रदाय को (जैसा आगे बताया जायगा) विज्ञानवादी भी कहा जा सकता है।

साथ एक दूसरा दार्शनिक सम्प्रदाय पाया जाता है जो यह मानता हुआ भी कि हमें प्रत्यक्ष तो केवल अपने ज्ञान का ही होता है, यह कहता है कि हमारे भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षों में भेद डालने वाले बाह्य पदार्थ तो विद्यमान हैं, परन्तु हमें उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल उनका अनुमान ही होता है (देखो परिच्छेद ७)। बार्कले के पहिले पाश्चात्य दर्शन में लॉक ने यह कहा था कि यद्यपि प्रत्यक्ष में जो वस्तु भासती है, वह तो हमारा ज्ञान ही है परन्तु ज्ञान में वह आकार बाह्य वस्तु से ही आया है, इसीलिये उसी प्रकार के आकारवाली बाह्य वस्तु का हम अनुमान करते हैं। और इसी प्रकार का 'बाह्यार्थानुमेयत्ववाद' का सिद्धान्त सर्वदर्शनसंग्रह आदि में 'सौत्रान्तिक' के नाम से दिया हुआ है। अन्तर इतना है कि लॉक बार्कले से पहिले हुआ और लॉक की आलोचना करते हुये बार्कले ने अपना सिद्धान्त स्थापित किया, परन्तु इधर सौत्रान्तिक को योगाचार के बाद दिखाया गया है, जिसने योगाचार के विज्ञानवाद की आलोचना करते हुये अपना उपर्युक्त सिद्धान्त स्थापित किया[1]।

विज्ञानवाद और (प्रत्यक्ष) अनुभव : योगाचार और बार्कले दोनों के आगे यह प्रश्न था कि यदि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं तो हमारे प्रत्यक्ष अनुभवात्मक ज्ञानों में 'घट' और पट आदि के आकारों का अन्तर क्योंकर प्रतीत होता है; क्योंकि स्मरणात्मक ज्ञानों का अन्तर तो अनुभवों के आधार पर होता है, परन्तु अनुभवात्मक ज्ञानों में अन्तर क्योंकर होता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि ज्ञान स्वभावतः ही नाना प्रकार का होता

---

1. *ऊपर (परि० ७ और ८) कहा गया है कि 'लॉक' के समान बाह्यार्थानुमेयत्ववाद को 'सौत्रान्तिक' मानते थे, इसका पता बौद्ध दार्शनिक साहित्य में नहीं मिलता। जो कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि 'विज्ञानवाद' से इस अंश में मिलता हुआ कि हमें साक्षात् प्रत्यक्ष तो अपने अनुभवों का ही होता है, न कि बाह्य वस्तु का, परन्तु उस ज्ञान में आकार उत्पन्न करने के लिये बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व आवश्यक है; एक दार्शनिक सम्प्रदाय विज्ञानवाद के साथ-साथ ही विद्यमान था।*

है, उसके लिये अन्य किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं; तो भी प्रश्न होता है कि हमारे ज्ञान दो प्रकार के हैं, एक स्मरणात्मक और दूसरे अनुभवात्मक (प्रत्यक्षात्मक)। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में वस्तु साक्षात् रूप से स्फुट (vividly) दिखाई देती है मानों वह बाहर हमारे सामने विद्यमान है; स्मरणात्मक ज्ञान में ऐसा नहीं होता। एक और भी अन्तर दोनों ज्ञानों में पाया जाता है, स्मरणात्मक ज्ञान हमारी इच्छा के अधीन होता है, अर्थात् हम चाहें तो स्मरण करें, चाहें तो न भी करें। परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं, जब आँख या दूसरी इन्द्रियें काम करती हैं तो बाह्य वस्तु का अनुभव (प्रत्यक्ष) अवश्य होता है। वह हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है कि हम चाहें तो एक वस्तु को न भी देखें। परन्तु जब दोनों प्रकार के ज्ञान हमारे मानसिक ज्ञान मात्र हैं और कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं तो यह अन्तर दोनों प्रकार के ज्ञानों में क्यों है? बार्कले ने उत्तर दिया कि हमारे व्यक्तिगत 'मनस्' (mind) के अतिरिक्त एक विश्वव्यापक 'मनस्' भी है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। स्मरणात्मक ज्ञान हमारे अपने व्यक्तिगत 'मनस्' पर निर्भर है, इसलिये उनका होना हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर है; परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारे मन में ईश्वर के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, अर्थात् उनके विषय में हम स्वाधीन नहीं हैं। इसीलिये प्रत्यक्षात्मक ज्ञान बाहर से आते से प्रतीत होते हैं, और वे स्मरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा अधिक स्फुट भी इसलिये होते हैं कि वे एक बड़े विश्वव्यापक 'मनस्' के द्वारा हमारे अन्दर उत्पन्न किए जाते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर योगाचार विज्ञानवादी यह देता है कि हमारे स्मरणात्मक ज्ञान इसी जन्म में हुये हमारे प्रत्यक्षात्मक अनुभवों की वासना पर निर्भर हैं, परन्तु प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमारी अनादि वासना अर्थात् बाह्य वस्तुओं के विषय में अनादि काल से चले आने वाले संस्कार पर निर्भर हैं। हमारे पहिले जन्मों में बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हुआ है, उसी के अनुसार इस जन्म में भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। यह प्रवाह अनादि काल से चला आता

है, इसलिये यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि हमारा सबसे पहिला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान किसी वस्तु को साक्षात् रूप से देखकर ही हुआ होगा, क्योंकि अनादि प्रवाह के विषय में, बीज और वृक्ष के समान, यह प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता।

विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थों के खण्डन में अनेक युक्तियाँ दी हैं जिनमें परमाणुवाद और अवयविवाद का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व सम्भव ही नहीं। उन युक्तियों का निरूपण इस संक्षिप्त निबन्ध में सम्भव नहीं है।

आलय विज्ञान : विज्ञानवाद का, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, आधार तर्क यह है कि 'स्वसंवेदन' अर्थात् हमें ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता, अर्थात् ज्ञान का अस्तित्व और उसका प्रत्यक्ष हमारा आधारभूत सत्य है। परन्तु फिर भी वह स्वसंवेद्यमान क्षणिक ज्ञानों को परमार्थ सत् नहीं मानता। विज्ञानवादी के अनुसार सत्य के तीन स्तर हैं :— एक '*परिनिष्पन्न लक्षण*' अर्थात् परमार्थ सत्य, दूसरा '*परतन्त्र लक्षण*' अर्थात् व्यावहारिक सत्य और तीसरा '*परिकल्पित लक्षण*' अर्थात् कल्पनात्मक सत्य। परमार्थ सत्य क्या है? प्रत्येक क्षण अनुभव में आने वाले अनन्त विज्ञानों को प्रवृत्तिविज्ञान कहा गया है। इन प्रवृत्तिविज्ञानों से परे एक '*आलयविज्ञान*' है जो निरपेक्ष (Absolute) तत्त्व है जिसमें एक प्रकार से सारे प्रवृत्ति विज्ञान समा जाते हैं। जिस प्रकार माध्यमिक शून्यवाद में निरपेक्ष का स्वरूप 'शून्य' है उसी प्रकार योगाचार का 'निरपेक्ष तत्त्व' 'आलयविज्ञान' के रूप में है। 'आलय-विज्ञान' ही 'निर्वाण' या 'बोधि' का स्वरूप है। यह 'आलयविज्ञान' ही 'परिनिष्पन्न लक्षण' सत्य है अर्थात् परमार्थ सत्य है। इस 'आलयविज्ञान' का शुद्ध स्वरूप 'योग' के द्वारा प्राप्त होता है जिस के कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार है। बाकी प्रवृत्ति-विज्ञान या प्रवृत्तिविज्ञानों से प्रकट होने वाला जगत् परमार्थ सत्य नहीं है तत्गत 'परतन्त्रलक्षण' सत्य है। परन्तु कुछ वस्तु केवल हमारी कल्पना

में होती हैं जिनका बाह्य जगत् में होना प्रतीत भी नहीं होता, उनका अस्तित्व केवल 'परिकल्पित' माना गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शङ्कर के अद्वैतवाद में जो तीन प्रकार की, पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक, सत्ता मानी जाती हैं उनका प्रारम्भ शून्यवाद और योगाचार से ही हुआ था।

२४— *दिङ्नाग सम्प्रदाय का न्यायवाद*

५वीं सदी में किसी समय भारतीय दर्शन के आकाश में एक जाज्वल्यमान तारे के रूप में 'दिङ्नाग' का उदय हुआ। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। उत्तरकालीन सारे भारतीय दर्शन पर विशेषकर न्यायवैशेषिक और पूर्वमीमांसा के बाह्यार्थवाद (realism) पर उसकी अमिट छाप है। यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार वेदान्त के अद्वैतवाद को नागार्जुन से स्फूर्त्ति और प्रेरणा मिली, उसी प्रकार भारतीय बाह्यार्थवाद (realism) को दिङ्नाग से। परन्तु दोनों में अन्तर यह है की 'अद्वैतवाद' ने थोड़ा सा उलट पलट कर नागार्जुन की विचारपद्धति को स्वीकार किया, परन्तु इधर दिङ्नाग ने 'न्याय-वैशेषिक के रूढ बाह्यार्थवाद (Naive Realism) पर जो आक्रमण किया, उसके उत्तर और प्रत्युत्तर रूप लगभग ५०० वर्षों के लगातार संघर्ष में ही भारतीय बाह्यार्थवाद (Indian Realism) की रूपरेखा तय्यार हुई। दिङ्नाग ने विशेषकर न्याय के वात्स्यायन भाष्य पर आक्रमण किया था, जिसका उत्तर उद्योतकर ने न्यायवार्त्तिक में दिया। इसी बौद्ध-न्याय-संघर्ष ने भारत के कतिपय सबसे महान् दार्शनिक जैसे उद्योतकर, धर्मकीर्त्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मोत्तर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, श्रीधर और उदयन आदि को जन्म दिया। इस संघर्ष की रूपरेखा का विशेष निरूपण इस निबन्ध के अगले भाग में दिये गये न्यायशास्त्र के इतिहास में दिया जायगा।

दिङ्नाग सम्प्रदाय का साहित्य : इसके विषय में संक्षेप से इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'दिङ्नाग' का मुख्य ग्रन्थ जिसने भारतीय दर्शन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी '*प्रमाणसमुच्चय*' है। भारतीय दर्शन में प्रमाण-

समुच्चय का वही स्थान है जो कि पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन के इतिहास में बेकन के "Novum Organum" का है। प्रमाणसमुच्चय के अतिरिक्त दिङ्नाग के अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें से अधिकांश चीनी और तिब्बती भाषा के अनुवादों में विद्यमान हैं और कई मूल संस्कृत रूप में भी प्राप्त हो चुके हैं। दिङ्नाग का '*न्याय-प्रवेश*' संस्कृत रूप में श्रीयुत ध्रुव द्वारा सम्पादित और टिप्पणीयुक्त प्रकाशित हो चुका है। वह न्याय का ग्रन्थ है। दिङ्नाग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिसमें बाह्य पदार्थों का खण्डन किया गया है '*आलम्बनपरीक्षा*' है। यह भी प्रकाशित हो चुका है।

दिङ्नाग का उत्तराधिकारी दिङ्नाग के समान ही महान् प्रतिभाशाली *धर्मकीर्ति* था। दिङ्नाग नवीन न्यायवादी बौद्धों के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक है, परन्तु उसे दृढ़ आधार पर स्थापित करने का गौरव धर्मकीर्ति को ही प्राप्त है। यद्यपि कभी-कभी धर्मकीर्ति को दिङ्नाग का शिष्य कहा जाता है, परन्तु यह भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः धर्मकीर्ति दिङ्नाग से बहुत पीछे सातवीं सदी में हुए। यह कहा जाता है कि धर्मकीर्ति दिङ्नाग के एक शिष्य ईश्वरसेन के शिष्य थे। परन्तु धर्मकीर्ति का समय सातवीं सदी का मध्य है, इसलिये दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के बीच में अधिक अन्तर होना चाहिये। धर्मकीर्ति का प्रमुख ग्रन्थ '*प्रमाणवार्त्तिक*' है। हर्ष की बात है कि यह ग्रन्थ मनोरथनन्दिकृत वृत्ति सहित श्री राहुल साङ्कृत्यायन द्वारा सम्पादित होकर बिहार रिसर्च सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित हो चुका है। साथ ही प्रमाणवार्तिक के एक भाग पर प्रज्ञाकर गुप्त की 'वार्त्तिकालङ्कार' नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। धर्मकीर्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ '*हेतुबिन्दुविनिश्चय*' है। इसमें प्रमाणवार्त्तिक के विषय को संक्षिप्त रूप में दिया है। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जो कि दिङ्नाग सम्प्रदाय को समझने में इस समय हमारा सबसे बड़ा सहायक है, धर्मकीर्त्ति का '*न्यायबिन्दु*' है। यही अकेला ग्रन्थ है जिसका ठीक-ठीक सम्पादन होकर अनुवाद भी हो चुका है। न्यायबिन्दु धर्मोत्तर की टीका सहित बहुत पहिले पीटर्सन द्वारा सम्पादित होकर

कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ था। परन्तु हर्ष की बात है कि श्चेरबात्स्की द्वारा सम्पादित, धर्मोत्तर टीका सहित न्यायबिन्दु का एक विशेष संस्करण रूस में छप चुका है, और Buddhist Logic की द्वितीय जिल्द में स्चेरबात्स्की द्वारा 'न्यायबिन्दु' का अंग्रेज़ी का अनुवाद विस्तृत और अर्थ प्रकाश करने वाली टिप्पणियों सहित छप चुका है। दुर्भाग्य की बात है कि न्यायबिन्दु का रूसी संस्करण और अनुवाद दोनों ही इस समय भारत में अप्राप्य हैं और यहाँ तक कि हमारे देश के प्रमुख पुस्तकालयों में भी वे विद्यमान नहीं। धर्मोत्तर के सिवाय न्यायबिन्दु का टीकाकार विनीतदेव भी था, उसका ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है।

जम्बूद्वीप के छै रत्न : धर्मकीर्त्ति बौद्ध दर्शन का अन्तिम चमकता हुआ तारा है। धर्मकीर्त्ति (७वीं सदी का मध्यकाल) के समय में ही बौद्ध धर्म पतनोन्मुख हो रहा था। उसके थोड़े ही दिन बाद (सातवीं सदी के अन्त या आठवीं के आरम्भ में) कुमारिल और शङ्कर ने बौद्ध धर्म पर तीव्र आक्रमण किया। बौद्धों की जनश्रुति के अनुसार कुमारिल धर्मकीर्त्ति के समकालीन थे और उन्होंने कुमारिल को शास्त्रार्थ में पराजित किया था, परन्तु यह जनश्रुति प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। तिब्बत के बौद्ध साहित्य में महायान दर्शन के ६ महान् आचार्यों को 'जम्बूद्वीप (भारत) के छै रत्न' कहा गया है। ये छै रत्न, *नागार्जुन*, *आर्यदेव*, *असङ्ग*, *वसुबन्धु*, *दिङ्नाग* और *धर्मकीर्त्ति* हैं। यह स्पष्ट है कि इनमें पहिले दो नागार्जुन और आर्यदेव शून्यवाद के, अगले दो असङ्ग और वसुबन्धु (जो कि दोनों सगे भाई थे) विज्ञानवाद के, और अन्तिम दो दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति बौद्ध न्यायवाद के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। न केवल बौद्ध दर्शन अपितु सारे भारतीय दर्शन को नागार्जुन और दिङ्नाग की मौलिक प्रतिभा ने दो सर्वथा नवीन विचारधारायें दीं और उस दृष्टि से वे दोनों नाम बौद्ध दर्शन में सर्वोपरि हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन साहित्य को सबसे अधिक बहुमुखी देन वसुबन्धु की है और उस दृष्टि से उसका नाम सर्वोपरि है। केवल 'वसुबन्धु' को ही 'द्वितीय बुद्ध' कहे जाने का गौरव प्राप्त है।

<u>*दिङ्नाग और काण्ट :*</u> इस ऐतिहासिक भूमिका के पश्चात् दिङ्नाग के दर्शन के विषय में संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। जहाँ तक बौद्ध 'न्याय' (Logic) का प्रश्न है, यद्यपि उस दिशा में दिङ्नाग से पहिले नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु आदि ने बहुत कुछ कार्य किया, परन्तु नियमित रूप से बौद्ध न्याय की स्थापना करने का श्रेय दिङ्नाग को ही प्राप्त है। वैदिक (हिन्दू) न्याय पर भी दिङ्नाग का बहुत प्रभाव पड़ा, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, परन्तु उस देन को ठीक ठीक मापने के लिये भारतीय तर्कशास्त्र की गम्भीर गवेषणा अपेक्षित है। परन्तु न्याय को छोड़कर विशुद्ध दर्शन शास्त्र या ज्ञान सिद्धान्त (epistemology) के क्षेत्र में भी दिङ्नाग की मौलिक देन है। रूस के विद्वान् लेखक श्चेरबात्स्की ने दो बड़ी जिल्दों में 'बौद्ध न्यायशास्त्र' (Buddhist Logic) नामक ग्रन्थ (जो कि लेनिनग्रेड से प्रकाशित हुआ है) लिखकर दिङ्नाग सम्प्रदाय के दर्शन का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। आधुनिक युग के पाश्चात्य लेखक होने पर भी श्चेरबात्स्की का स्थान बौद्ध दर्शन के प्राचीन आचार्यों में रक्खा जाना चाहिये— इतनी बड़ी उसकी बौद्ध दार्शनिक साहित्य को देन है (देखो पृष्ठ १६ फुटनोट् न० १)। श्चेरबात्स्की ने हमें बतलाया कि ज्ञान-सिद्धान्त (epistemology) के क्षेत्र में जिस तत्त्व की खोज आधुनिक पाश्चात्य जगत् के सबसे बड़े दार्शनिक इमेन्यूएल काण्ट ने अठारहवीं सदी में की थी, उसकी रूपरेखा दिङ्नाग ने ५वीं सदी में प्रस्तुत कर दी थी। काण्ट ने पाश्चात्य दर्शन में सबसे पहिले स्पष्ट रूप से संवेदनात्मक (sensibility) और विचारात्मक (understanding), इन दो प्रकारों का भेद किया था, उसके अनुसार बाह्य जगत् की यथार्थ वस्तु (thing-in-itself) हमारे प्रत्यक्ष से परे की वस्तु है। उसी यथार्थ वस्तु से हमारे अन्दर संवेदनात्मक (sensibility) ज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु संवेदनात्मक ज्ञान आकाररहित है। उसको आकार प्राप्त होता है हमारे विचार के मानसिक प्रत्ययों (categories of understanding) के द्वारा। दृश्यमान बाह्य जगत् (phenomenal

world) यथार्थ बाह्य तत्त्व (thing-in-itself) से प्राप्त संवेदनों, और उन संवेदनों को हमारी विचारशक्ति द्वारा दिये गये आकारों से बना हुआ है। संवेदनों के बिना विचारशक्ति वस्तुतत्त्वहीन (contentless) है और ज्ञान के दिये हुये आकारों के बिना संवेदन आकारहीन (blind) हैं।

प्रमाण-प्रमेय-द्वैविध्य : दिङ्नाग ने कहा कि 'वस्तु' (reality) दो प्रकार की है। एक बाह्य जगत् में अस्तित्व रखने वाला क्षणिक '*स्वलक्षण*' जो कि वैभाषिक के माने धर्मों के समान अनन्त है। वह सर्वथा 'विशेष तत्त्व' है अर्थात् दो या अधिक स्वलक्षणों में कोई सामान्य तत्त्व 'द्रव्य' या 'अवयवी' या 'जाति' के रूप में नहीं। प्रत्येक अपने में अलग तत्त्व है। वह 'स्वलक्षण' समय की दृष्टि से क्षणिक है और देश की दृष्टि से रेखागणित के बिन्दु के समान है, जिसमें कोई लम्बाई या चौड़ाई नहीं है। दूसरे शब्दों में, जैसा कि पहिले (पृ० ६ पर) कहा गया है, वह 'स्वलक्षण' समय की दृष्टि से (temporally) स्थिरता (duration) नहीं रखता, और देश की दृष्टि से (spatially) विस्तार (extension) नहीं रखता, अर्थात् यथार्थ तत्त्व (reality) समय की दृष्टि से लम्बाई में (vertically) सब ओर से कटी हुई है, और देश की दृष्टि से चौड़ाई में (horizontally) सब ओर से कटी हुई है अर्थात् वह एक बिन्दुमात्र है जिसमें कोई अवयव नहीं, अथवा स्वलक्षणों को यदि अवयव समझें तो उन अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी या द्रव्य नहीं। अथवा अनेक क्षणों में रहने वाली वस्तु के समान उन अनेक क्षणों में रहने वाला कोई सामान्य धर्मी तत्त्व नहीं, क्योंकि 'स्वलक्षण' एक ही क्षण रहता है। और यह क्षणिक 'स्वलक्षण' ही बाह्य जगत् में अस्तित्व रखता है, और 'परमार्थ सत्' है, क्योंकि वही 'अर्थक्रियाक्षम' है। अर्थात् जलाने का काम 'अग्नि' के 'स्वलक्षण' से हो सकता है न कि 'सामान्य लक्षण' अर्थात् मानस अग्नि से। दूसरा तत्त्व '*मानस*' है, अर्थात् जो केवल हमारे विचार में है, परन्तु बाह्य जगत् में नहीं है, यह '*सामान्य लक्षण*' है जिसका अर्थ है अनेक वस्तुओं को एक सामान्य या जाति के रूप में

देखना। न्याय-वैशेषिक ने कहा था सामान्य भी, अर्थात् अनेक गौओं में रहने वाला 'गोत्व' या अनेक घटों में रहने वाला 'घटत्व' भी एक बाह्य सत् (external reality) है। दिङ्नाग ने इसका घोर विरोध किया, उसने कहा कि सामान्य एक *'मानस तत्त्व'* मात्र है, उसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं, वह 'अतद्व्यावृत्ति' रूप है अर्थात् गौओं में रहने वाला 'गोत्व' कोई 'बाह्य सत्' विधिरूप भावपदार्थ (positive entity) नहीं, प्रत्युत अनेक गौओं की 'अगौ' (अतद्) अर्थात् भैंस, ऊँट, हाथी आदि से भिन्न होना (व्यावृत्ति) ही उस 'सामान्य' का स्वरूप है, और यह 'अतद्-व्यावृत्ति' मानस धर्म है। और क्योंकि तत्त्व दो प्रकार का है अर्थात् एक *'स्वलक्षण'* (बाह्य) और दूसरा *'सामान्य लक्षण'* मानस, इसलिये 'प्रमाण' अर्थात् हमारा ज्ञान भी दो प्रकार का है। एक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जिससे 'स्वलक्षण' का ग्रहण होता है, वह प्रत्यक्ष सामान्य अर्थात् आकाररहित[1] 'स्वलक्षण' का ग्रहण करता है इसलिये वह निर्विकल्पक होता है अर्थात् वह अतीन्द्रिय (transcendental) है। स्वलक्षण के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही 'ग्रहण' कहते हैं। परन्तु उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के होते ही हमारा ज्ञान उसके साथ 'सामान्य' या 'आकार' को जोड़ देता है और इस प्रकार 'सामान्य लक्षण' तत्त्व का जो हमें ज्ञान होता है वह *'सविकल्पक'* या *'अध्यवसाय'* कहलाता है। वह सविकल्पक है, क्योंकि उसमें 'सामान्य' की हमारी मानस कल्पना विद्यमान है। स्मरणात्मक ज्ञान भी 'सामान्य लक्षण' को ही विषय करता है, परन्तु वह शुद्ध कल्पनात्मक होता है अर्थात् उसमें कल्पित सामान्य लक्षण के सिवाय वस्तु तत्त्व कुछ भी नहीं होता,

---

1 *दिङ्नाग के सिद्धान्त में वस्तु का आकार या स्वरूप 'सामान्य लक्षण' रूप ही है, क्योंकि 'स्वलक्षण' जो कि सर्वथा विशेष रूप* (extreme particular and unique) *है उसका कोई बुद्धिगम्य 'आकार' हो ही नहीं सकता, दूसरे शब्दों में 'स्वलक्षण' हमारे विचार का विषय भी नहीं हो सकता।*

इसलिये उसमें वस्तु का आकार होते हुए भी वह ज्ञान 'अर्थक्रियाक्षम' नहीं, अर्थात् 'स्मरणात्मक' अग्नि जला नहीं सकती, परन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पृष्ठभावी (अर्थात् उसके बाद होने वाला) सामान्य ज्ञान केवल 'सामान्य लक्षण' का ही ज्ञान नहीं है अपितु वह अर्थक्रियाक्षम 'स्वलक्षण' के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद हुआ है, इसलिये उसके साथ स्वलक्षण का 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' या 'ग्रहण' भी जुड़ा हुआ है। इसीलिये इस 'अध्यवसाय' (सविकल्पक) के द्वारा हम अर्थक्रियाक्षम 'स्वलक्षण' तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि दिङ्नाग के मत में *'ग्रहण'* और *'अध्यवसाय'* काण्ट दर्शन के 'संवेदनात्मक' (sensibility) और 'विचारात्मक' (understanding) ज्ञानों के समान ही हैं। ज्ञान की दृष्टि से ऊपर बताया गया है कि ज्ञान दो प्रकार का है एक 'ग्रहण' और दूसरा 'अध्यवसाय'। प्रमाण की दृष्टि से प्रमाण दो प्रकार के हैं एक 'प्रत्यक्ष' और दूसरा 'अनुमान'। साधारणतया अनुमान शब्द विशेष अर्थ में (logical inference) के लिये आता है। परन्तु दिङ्नाग के दर्शन में कभी कभी व्यापक अर्थ में भी 'अनुमान' शब्द का प्रयोग होता है जिसके अन्दर निर्विकल्प प्रत्यक्ष का पृष्ठभावी 'अध्यवसाय' भी आ जाता है। और साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि 'अनुमान' के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह भी 'सामान्य लक्षण' विषयक होने के कारण 'अध्यवसाय' रूप ही होता है।

प्रमाण व्यवस्था : इस प्रकार जैसा कि ऊपर कहा गया है, क्योंकि वस्तु दो प्रकार की हैं, एक बाह्य सत् 'स्वलक्षण' और दूसरी मानस वस्तु अर्थात् 'सामान्य लक्षण', इसलिये ज्ञान भी दो प्रकार का है एक ग्रहण और दूसरा अध्यवसाय या अनुमान। ज्ञान के इन दोनों प्रकारों का भेद मौलिक और वास्तविक (fundamental and essential) है, वे दोनों प्रकार के ज्ञान परस्पर व्यावृत्त (mutually exclusive) हैं, अर्थात् 'स्वलक्षण' का *'ग्रहण'* प्रत्यक्ष से ही हो सकता है और 'सामान्य लक्षण' का ज्ञान *'अध्यवसाय'* या अनुमान से ही। एक के क्षेत्र में दूसरा जा ही नहीं सकता,

अर्थात् 'प्रत्यक्ष' के क्षेत्र स्वलक्षण के विषय में 'अनुमान' या 'अध्यवसाय' नहीं जा सकता और 'अनुमान' या 'अध्यवसाय' के क्षेत्र 'सामान्यलक्षण' में 'प्रत्यक्ष' नहीं जा सकता। इसी को '*प्रमाण व्यवस्था*' कहते हैं। इसके विरुद्ध न्याय-वैशेषिक 'प्रमाण-संप्लव' मानता है अर्थात् एक ही वस्तु 'अग्नि' को हम प्रत्यक्ष से देख सकते हैं, उसका धूम से अनुमान कर सकते हैं, और शब्द प्रमाण द्वारा भी उसका ज्ञान हो सकता है। दिङ्नाग सम्प्रदाय और न्याय-वैशेषिक के बीच 'प्रमाण-संप्लव' और 'प्रमाण-व्यवस्था' को लेकर बहुत विवाद होता रहा है। भारतीय दर्शन में 'प्रमाण व्यवस्था' के सिद्धान्त का प्रथम संस्थापक दिङ्नाग ही था और भारतीय दर्शन में उस सिद्धान्त का वही महत्त्व है जैसा कि पाश्चात्य दर्शन में काण्ट के द्वारा प्रतिपादित 'संवेदनात्मक' (sensibility) और 'विचारात्मक' (understanding) इन दो प्रकार के ज्ञानों के भेद का।

दिङ्नाग और मार्क्स : जहाँ एक ओर दिङ्नाग ने प्रमाणवाद या ज्ञानसिद्धान्त (epistemology) के क्षेत्र में काण्ट के दर्शन की रूप-रेखा १३०० वर्ष पहिले प्रस्तुत की थी वहाँ दूसरी ओर 'प्रमेयवाद' (metaphysics या ontology[1]) की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन के नवीनतम सिद्धान्त मार्क्सवाद के प्रत्येक क्षण परिवर्त्तनशील भूतवाद (materialism) को प्रस्तुत किया था। दिङ्नाग ने प्राचीन बौद्ध धर्म के क्षणवाद को सुनिश्चित दार्शनिक भित्ति पर स्थापित कर यह बतलाया कि परस्पर व्यावृत्त (एक दूसरे से सर्वथा भिन्न) क्षणिक 'स्वलक्षण' ही बाह्य तत्त्व हैं परन्तु वे स्वलक्षण परस्पर सम्बद्ध और मिलकर 'संस्कृत' धर्म के रूप में काम करते हैं। इस सिद्धान्त की

---

1 *वस्तुतत्त्व* (reality) *पर हम 'ज्ञान' या 'प्रमाण' की दृष्टि से विचार करते हैं तो उसे पाश्चात्य दर्शन में* 'epistemology' *कहते हैं, और उसके लिये 'प्रमाणवाद' हमारे दर्शन का शब्द होगा, परन्तु जब 'वस्तुतत्त्व' पर केवल उसके बाह्य तत्त्व होने की दृष्टि से विचार करते हैं तो उसे* metaphysics *या* ontology *या 'प्रमेयवाद' कह सकते हैं।*

तुलना मार्क्सवाद से बिल्कुल स्पष्ट है जिस के अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्पर जुड़ी हुई और परस्पर सम्बद्ध है "और लगातार प्रादुर्भूत होती और नष्ट होती है— वह लगातार एक प्रवाह में विद्यमान है, और लगातार एक गति और परिवर्त्तन से गुज़र रही है।"[1]

दिङ्नाग बाह्यार्थवादी और विज्ञानवादी : शून्यवाद ने 'बाह्य' और 'आन्तर' दोनों तत्त्वों का निषेध किया था। योगाचार ने आन्तर तत्त्व को मानते हुये भी बाह्य जगत् की असत्यता के महायान सिद्धान्त को स्थिर रक्खा। दिङ्नाग ने प्राचीन बौद्ध धर्म के अनुसार बाह्य वस्तु अर्थात् 'धर्मों' या 'स्वलक्षणों' को वस्तु सत् माना। परन्तु फिर भी बाह्य दृश्यमान जगत् को 'सामान्य लक्षण' रूप मान कर उसकी दृश्यमान रूप में बाह्य वस्तुसत्ता (external reality) का निषेध किया। इसलिये 'स्वलक्षण' रूप बाह्य सत्ता मानने पर भी दिङ्नाग सम्प्रदाय को 'विज्ञानवादी' (idealist) या काण्ट के समान 'परमार्थ दृष्टि से विज्ञानवादी' (transcendental idealist) कहा जा सकता है, क्योंकि विचार-शक्ति द्वारा बाह्य वस्तुओं को दिये हुये आकार परमार्थतः (transcendentally) 'मानस' (ideal) ही हैं। दिङ्नाग के सिद्धान्त की काण्ट के दर्शन से समता स्पष्ट है, क्योंकि काण्ट के अनुसार यद्यपि बाह्य जगत् में वस्तु का अपना यथार्थ स्वरूप (thing in itself or noumenon) विद्यमान है, परन्तु दृश्यमान जगत् (phenomenal world) को आकार और स्वरूप हमारी विचार शक्ति (understanding) ने ही दिया है।

---

1 Everything is interlinked and interrelated and is "in a constant state of coming into being and going out of being, in a constant flux, in a ceaseless state of movement and change." F. Engels : Dialectics of Nature, *जिसको स्टैलिन ने अपनी पुस्तक* 'Dialectical and Historical Materialism' *में (पृष्ठ ५ पर) उद्धृत किया है।*

२५— *पूर्वमीमांसा*

पूर्वमीमांसा और अर्थविज्ञान : वेद के तीन भाग हैं :— संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् । इनमें मूल वेद अर्थात् मंत्र भाग ऋग्वेद आदि संहिताओं के नाम से प्रसिद्ध है। जिन ग्रन्थों में यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, वे ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाते हैं। प्रत्येक वेद के साथ ब्राह्मण ग्रन्थ जुड़े हुये हैं। इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ अंश आरण्यक कहलाते हैं और आरण्यकों के अंश उपनिषद् हैं (देखो परिच्छेद २)। उपनिषद् ब्राह्मणों से अलग इसलिये गिने जाते हैं जहाँ ब्राह्मणों का विषय कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ है, उपनिषदों का विषय ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान है। वेद के इन दो भागों— ब्राह्मण और उपनिषद्— से क्रमशः सम्बन्ध रखने वाले दो दर्शन हैं उनमें एक वेद के पूर्वभाग अर्थात् ब्राह्मणों से सम्बन्ध रखने के कारण *पूर्वमीमांसा* कहलाता है और जैमिनि उसका रचयिता है। दूसरा वेद के 'उत्तरभाग' अर्थात् उपनिषदों से सम्बन्ध रखने के कारण उत्तरमीमांसा कहलाता है और बादरायण उसका रचयिता है। यह बतलाया जा चुका है कि 'मीमांसा' शब्द सामान्यरूपेण 'दर्शन शास्त्र' (फिलॉसफ़ी) के लिये प्रयुक्त होता था, यह भी बतलाया जा चुका है। (देखो परि० १६) कि 'उत्तरमीमांसा' के लिये 'वेदान्त दर्शन' शब्द अधिकतर व्यवहार में आता है (देखो परि० २)। इसलिये 'पूर्वमीमांसा' के लिये केवल 'मीमांसा' शब्द भी व्यवहार में प्रचलित है। वेद के इन दोनों भागों से सम्बन्ध रखने वाले दोनों दर्शन अपने अपने भाग के वेद वाक्यों का और उनके विषय का विवेचन करते हैं अर्थात् पूर्वमीमांसा ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों का और यज्ञ का विवेचन करता है और उत्तर-मीमांसा या वेदान्त उपनिषदों के वाक्यों का और ब्रह्मविद्या का। परन्तु उन दोनों की विवेचन-प्रक्रिया या शैली बिल्कुल भिन्न भिन्न है। वेदान्त उपनिषदों के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट कर उसी दृष्टि से उपनिषद् के वाक्यों की परस्पर सङ्गति स्थापित करता है। परन्तु 'पूर्वमीमांसा' ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों के अर्थनिर्णय करने के लिये यज्ञ-

सम्बन्धी कोई दार्शनिक प्रक्रिया प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों के अर्थनिर्णय के लिये वाक्यार्थ-विचार के कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त या नियम स्थापित करता है, और उन नियमों के अनुसार ब्राह्मण-वाक्यों पर विचार करता है। इस प्रकार मीमांसा एक नवीन विज्ञान को जिसे हम 'वाक्य विज्ञान' या 'अर्थ विज्ञान' (science of interpretation) कह सकते हैं, स्थापित करता है। वाक्यार्थनिर्णय के लिये जो वैज्ञानिक नियम मीमांसा ने स्थापित किये हैं, उनका निरूपण यहाँ स्थानाभाव से नहीं किया जा सकता है, परन्तु वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और वैज्ञानिक हैं, उन नियमों को केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ-निर्णय के लिये ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शास्त्र में और प्रत्येक विज्ञान में काम में लाया जा सकता है। धर्मशास्त्र या कानून में जहाँ एक एक शब्द का तात्पर्य बहुत महत्त्व रखता है और ज़रा सी त्रुटि से अनर्थ हो जाता है, यह मीमांसा के सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। हमारे देश में तो धर्मशास्त्र के साहित्य में मीमांसा के नियमों का उपयोग पहिले से ही प्रचलित रहा है। अनेक आलोचकों का विचार है कि आधुनिक युग में भी मीमांसा के इन सिद्धान्तों का कानून में बहुत ही लाभदायक उपयोग हो सकता है, और ये मीमांसा के नियम कानून शास्त्र के अध्ययन के आवश्यक अङ्ग होने चाहियें।

मीमांसा और दार्शनिक तत्त्व : प्रश्न यह है कि कर्मकाण्ड और यज्ञसम्बन्धी इस मीमांसादर्शन का दर्शन-शास्त्र (फ़िलॉसफ़ी) से क्या सम्बन्ध है? पूर्वमीमांसा में दार्शनिक विषय क्या है? यथार्थ बात तो यही है कि मीमांसा का दर्शन-शास्त्र के विषय से वास्तविक सम्बन्ध कोई है ही नहीं। कर्मकाण्डसम्बन्धी प्रक्रियाओं के विवेचन और उससे सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों के अर्थ-विचार को 'दर्शन-शास्त्र' कहना उस शब्द की विडम्बनामात्र है। 'पूर्वमीमांसा' को प्राचीन काल में भी दर्शन माना गया था, वह तो इसलिये कि उस समय के लोग कदाचित् ब्राह्मण ग्रन्थों के (जो कि कर्मकाण्ड युग में वेद का मुख्य अंश माना जाता

था) अर्थ-विवेचन को भी 'मीमांसा'या 'दर्शन-शास्त्र' ही मानते थे। परन्तु आज भी हम 'पूर्वमीमांसा' को दार्शनिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत मानते हैं। उसका कारण यह है कि पिछले युग में 'पूर्वमीमांसा' के साहित्य में विशुद्ध दर्शन-शास्त्र की समस्याओं का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया था। इसको स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि 'पूर्वमीमांसा' के प्राचीन और नवीन साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया जाय।

पूर्वमीमांसा साहित्य :— जैमिनि के 'पूर्वमीमांसा दर्शन' के सूत्रों से इस शास्त्र का प्रारम्भ होता है। वैदिक छै दर्शनों में जैमिनि के सूत्र कदाचित् सबसे पुराने हैं या बादरायण के ब्रह्मसूत्रों के समान ही पुराने हैं। आकार में वे बाकी ५ दर्शनों के सूत्रों के लगभग बराबर हैं। मीमांसासूत्रों और ब्रह्मसूत्रों में एक दूसरे के विषय में पारस्परिक संकेत (cross-references) पाये जाते हैं, इसलिये उन दोनों का समय लगभग एक ही होगा, ब्रह्मसूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन पाया जाता है, जिस का प्रादुर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ। इस लिये श्चेरबात्स्की[1] ने यह मत प्रकट किया था कि इन सूत्रों का समय ५वीं सदी के बाद का होना चहिये, परन्तु जैकोबी[2] ने यह दिखलाया है कि शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों ही बाह्य जगत् के अस्तित्व का निषेध करते हैं, इसलिये शून्यवाद का खण्डन विज्ञानवाद के खण्डन के समान प्रतीत होता है और वस्तुतः ब्रह्मसूत्र आदि में शून्यवाद का ही खण्डन है। शून्यवाद का जन्म ईसा की प्रथम या द्वितीय सदी में हुआ, इसलिये ब्रह्मसूत्र अथवा मीमांसासूत्र का समय ईसा की तृतीय शताब्दी के आसपास होना चाहिये। इन सूत्रों पर भर्तृमित्र, भवदास, उपवर्ष आदि अनेक प्राचीन भाष्य लिखे गये थे, पर उनका इस समय पता नहीं। इस समय मीमांसा-

---

1 Stcherbatsky: Epistemology and Logic as taught by Later Buddhists (in Russian 1909).

2 Jacobi: Journal of the American Oriental Society, Vol. XXXII (1911).

सूत्रों पर शबर स्वामी का भाष्य पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय के सारे अर्वाचीन साहित्य का आधारभूत ग्रन्थ है। शबर स्वामी के समय के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु वे बहुत प्राचीन हैं और ईसा की चौथी, पाँचवीं शताब्दी से बाद के नहीं हो सकते। शबर स्वामी के भाष्य पर किसी 'वार्त्तिककार' ने टीका लिखी, ऐसा पता चलता है, पर इस समय हमें उसका पता नहीं। ईसा की आठवीं सदी में पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय के क्षेत्र में दो महान् प्रतिभाशाली दार्शनिक हुये जिनका सारे भारतीय दर्शन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है :— वे हैं *कुमारिल* और *प्रभाकर*। दोनों लगभग समकालीन थे। यह माना जाता है कि कुमारिल प्रभाकर के गुरु थे, परन्तु प्रभाकर कुमारिल का अनेक सिद्धान्तों में विरोध किया करते थे। इसलिये कुमारिल ताने के रूप में उनको 'गुरु' कहते थे, और इसीलिये प्रभाकर का मत 'गुरुमत' कहलाता है। कुमारिल का मत 'भाट्ट मत' कहलाता है। दिङ्नाग का उल्लेख करते हुये यह बताया गया था कि जिस समय दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक के बाह्यार्थवाद पर आक्रमण किया, उसका उत्तर उद्योतकर ने दिया। उसके बाद बौद्धों के विज्ञान-वाद (idealism) और न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के बाह्यार्थवाद (realism) में कई शताब्दियों तक संघर्ष हुआ ; उस संघर्ष में उद्योतकर के बाद से जो छठी सदी के अन्त में हुये, वाचस्पति मिश्र तक जो ९वीं सदी में हुये, न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने कोई महान् दार्शनिक उत्पन्न नहीं किया। इस बीच के समय में बाह्यार्थवाद (realism) की ध्वजा को पूर्व-मीमांसा सम्प्रदाय ने उठाये रक्खा। कुमारिल और प्रभाकर ने दिङ्नाग सम्प्रदाय पर जोरदार आक्रमण किया, और उन्होंने बाह्यार्थवाद की पुष्टि में कतिपय ऐसे सिद्धान्तों को जन्म दिया जो 'बाह्यार्थवाद' (realism) के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस प्रकार यद्यपि कुछ थोड़े बहुत दार्शनिक विचार शबर भाष्य में भी पाये जाते हैं, परन्तु मीमांसा के क्षेत्र में दर्शन के विशेषकर ज्ञानसिद्धान्त (epistemology) सम्बन्धी तत्त्वों को लाने का गौरव कुमारिल और प्रभाकर को ही है

और इसीलिये साधारणतया यज्ञ और कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले मीमांसा का भी दार्शनिक क्षेत्र में एक विशेष स्थान है। कुमारिल ने शबरभाष्य पर टीका तीन ग्रन्थों द्वारा की। मीमांसा के पहिले अध्याय का पहिला पाद तर्कपाद कहलाता है। उस पर स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में[1] कारिकाबद्ध लिखी गई कुमारिल की टीका का नाम 'श्लोकवार्त्तिक' है। 'श्लोकवार्त्तिक' सर्वथा एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें कर्मकाण्ड और यज्ञ का वर्णन नहीं, प्रत्युत 'प्रमाणवाद' की स्थापना में अधिकतर बौद्धों का खण्डन किया है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक के शबरभाष्य पर कुमारिल की व्याख्या का नाम 'तन्त्रवार्त्तिक' है, तथा शेष भाष्य पर जो कुमारिल ने संक्षिप्त टिप्पणियें की हैं, उनका नाम 'टुपटीका' है। कुमारिल के अनुयायी अनेक मीमांसा लेखक हुये हैं जिनमें से मुख्य मण्डन मिश्र, पार्थसारथि मिश्र और सोमेश्वर हैं। मण्डन मिश्र ने 'मीमांसानुक्रमणी' और 'विधिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखे। 'विधिविवेक' पर वाचस्पति मिश्र की 'न्यायकणिका' टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण और गम्भीर दार्शनिक आलोचनाओं से भरी हुई है। पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' कुमारिल-सम्प्रदाय के मीमांसाशास्त्र का महान् ग्रन्थ माना जाता है। श्लोक-वार्त्तिक पर अनेक भाष्य लिखे गये। उधर प्रभाकर ने मीमांसा के तर्कपाद पर 'बृहती' नामक टीका लिखी और उस टीका पर प्रभाकर के मतानुयायी शालिकनाथ ने 'ऋजुविमला' नामक टीका लिखी, तथा प्रभाकरमत पर एक स्वतंत्र निबंध 'प्रकरणपञ्चिका' नामक लिखा। प्रभाकर-सम्प्रदाय के भी अन्य अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु कुमारिल-सम्प्रदाय से न्यूनतर

---

1 साधारणतया टीकाओं में किसी ग्रन्थ को लेकर उसके एक एक अंश को लेकर उसकी व्याख्या और आलोचना होती है, परन्तु 'स्वतन्त्र निबन्ध रूप टीका' का तात्पर्य यह है कि उसमें भाष्य के संदर्भ की व्याख्या नहीं होती प्रत्युत भाष्य के विषय को लेकर उस पर स्वतन्त्र आलोचनात्मक निबन्ध लिखा होता है।

हैं। स्वर्गीय श्री डा० गङ्गानाथ झा ने 'Prabhakar School of Mimansa' नामक मौलिक निबन्ध में प्रभाकर के सिद्धान्तों का आधुनिक समय में बहुत उत्तम विवेचन किया है।

मीमांसा का ज्ञानसिद्धान्त (epistemology): कुमारिल और प्रभाकर ने जिन नवीन दार्शनिक विचारों को जन्म दिया, उन सब पर प्रकाश डालना यहाँ कठिन है, किन्तु बाह्यार्थवाद की स्थापना में जो उन्होंने ज्ञान-सम्बन्धी कुछ मौलिक सिद्धान्त स्थापित किये उनका यहाँ दिग्दर्शन कराना आवश्यक है :—

बाह्यार्थवाद के विरोध में योगाचार ने सबसे मुख्य युक्ति यह दी थी कि 'नील' और 'नील का ज्ञान' ये दो वस्तु अलग अलग प्रतीत नहीं होतीं, बल्कि वे दोनों एक ही वस्तु हैं और एक वस्तु 'ज्ञान' ही हो सकती है, क्योंकि ज्ञान का खण्डन नहीं किया जा सकता (देखो परिच्छेद २३)। न्याय-वैशेषिक ने यह उत्तर दिया कि जिस 'वस्तु' का चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है, वह ज्ञान नहीं अपितु बाह्य वस्तु 'नील' या 'घट' या 'पट' आदि ही है। 'नीलज्ञान' या 'घटज्ञान' उससे भिन्न वस्तु है। उसका प्रत्यक्ष 'चाक्षुष' नहीं होता प्रत्युत 'घट' आदि के चाक्षुप प्रत्यक्ष के बाद 'घटज्ञान' का मानस प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि जब मैं घट को देख रहा हूँ तो दो प्रकार के प्रत्यक्ष (एक चाक्षुष और दूसरा मानस) होते नहीं दिखाई देते, इसलिये नैयायिक का उत्तर बहुत संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। कुमारिल इस समस्या का उत्तर यह देता है कि हमको केवल 'घट' का ही प्रत्यक्ष होता है 'घटज्ञान' का नहीं। घटज्ञान का तो केवल अनुमान किया जाता है। प्रक्रिया इस प्रकार है कि जब हमें घट का चाक्षुप प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो उस प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य वस्तु रूप 'घट' में 'ज्ञातता' अथवा 'प्रकटता' (या प्राकट्य) नामक धर्म ('जाना हुआ होना' अर्थात् 'प्रकट हुआ होना') उत्पन्न हो जाता है। पहिले जो घट 'अज्ञात' था वह 'ज्ञात' हो जाता है। कुमारिल की इस प्रक्रिया के अनुसार 'ज्ञान' भी घट का विशेषण होकर भासता है। घट के अन्दर उत्पन्न हुये इस 'ज्ञातता'

नामक धर्म से 'हमारे अन्दर घटज्ञान हुआ है', इस बात का अनुमान किया जाता है। कुमारिल के इस सिद्धान्त के विषय में जयन्त ने ताना देते हुए लिखा है कि 'ये बिचारे श्रोत्रिय (मीमांसक) किससे डरते हुये इतने घबड़ा गये'[1] (अर्थात् बौद्धों के डर से कि कहीं 'बाह्य' अर्थ का अस्तित्व ही न मिट जाय, इन्होंने ज्ञान का प्रत्यक्ष मानने से इन्कार कर दिया)। वस्तुतः ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानकर परोक्ष मानना बड़े साहस का काम है, किन्तु 'बाह्य जगत्' के अस्तित्व को बचाने के लिये कुमारिल ने वह साहसपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किया। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि कुमारिल के उपर्युक्त सिद्धान्त को प्रभाकर नहीं मानता, उसके मत में ज्ञान स्वयं-प्रकाश है।

अब एक सिद्धान्त प्रभाकर का भी ध्यान देने योग्य है। हम उस दशा में ज्ञान को यथार्थ (valid) ज्ञान कहते हैं, जब 'घट' में 'घट' या 'पट' में 'पट' की प्रतीति होती है। परन्तु कभी कभी हमें अयथार्थ ज्ञान भी होता है अर्थात् जब हमें रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है। इस मिथ्या ज्ञान (error) का समाधान करना प्रत्येक भारतीय दर्शन के आगे एक समस्या रही है। और प्रत्येक का अलग-अलग अपना-अपना उत्तर है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ऐसे स्थल पर 'अन्यथा ख्याति' होती है अर्थात् किसी वस्तु में दूसरी वस्तु को 'विशेषण' (प्रकार) करने वाला ज्ञान मिथ्या-ज्ञान कहलाता है (तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः), अर्थात् 'रज्जु' में (जो कि सर्प नहीं है) 'सर्पत्व' को विशेषण करने वाला ज्ञान मिथ्या-ज्ञान होता है। इस प्रकार जबकि हमें यथार्थ ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों ही हो सकते हैं, यह नहीं माना जा सकता कि हमारा प्रत्येक ज्ञान यथार्थ ही है। वह अयथार्थ भी हो सकता है। यदि ज्ञान अयथार्थ भी हो सकता है तो 'बाह्य जगत्' के अस्तित्व के विषय में ज्ञान का साक्ष्य संदेहास्पद हो जाता है। हो सकता है कि हमारा ज्ञान बाह्य जगत् के न होते हुये भी

---

1 *"अहो बत इमे केभ्यो बिभ्यतः श्रोत्रियाः परं किमपि वैक्लव्य-मुपागताः"* न्यायमञ्जरी चौखम्बा, पृ० १६।

भ्रम से ही उसकी प्रतीति करा रहा हो। ऐसी दशा में हमारे ज्ञान के आधार पर बाह्य जगत् का अस्तित्व स्थापित नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञान के सिवाय हमारे पास बाह्य जगत् के अस्तित्व के विषय में दूसरा प्रमाण ही क्या हो सकता है, इसलिये न्याय-वैशेषिक के 'बाह्यार्थवाद' का आधार निर्बल सिद्ध होता है। इस परिस्थिति में प्रभाकर का उत्तर है कि कोई भी ज्ञान कदापि मिथ्या नहीं हो सकता। ज्ञान से जो कुछ प्रतीति होती है, वह अवश्य यथार्थ ही होती है। 'रस्सी में सर्प की प्रतीति कैसे होती है?' इस पर प्रभाकर का उत्तर है कि यहाँ पर भी ज्ञान में कोई अयथार्थता नहीं है। रस्सी में 'यह सर्प है' इस प्रतीति में ज्ञान के दो अंश हैं, एक तो वस्तु में "यह है" केवल इस अंश का (इदन्ता का) ज्ञान जो कि 'ग्रहण रूप' (अर्थात् प्रत्यक्ष) है, और दूसरा 'सर्प होने' (सर्पत्व) का ज्ञान है जो कि स्मरण रूप है। इस प्रकार यहाँ पर 'ग्रहण' और 'स्मरण' रूप दो प्रकार के ज्ञान हैं। दोनों ही यथार्थ हैं, ठीक हैं। उन दोनों में हमारी बुद्धि को विवेक (फर्क = discrimination) करना चाहिये। परन्तु हमारी बुद्धि वह विवेक नहीं करती। उस प्रकार का 'विवेक न करना' (विवेकाग्रह) अर्थात् दोनों के अलग-अलग होने की 'ख्याति' (ज्ञान) का न होना अर्थात् 'अख्याति' ही उस प्रकार के ज्ञान का कारण है, जिसे 'भ्रम' कहा जाता है। इस प्रकार एक विशेष प्रकार के ज्ञान का (जो कि अपेक्षित था) न होना उस भ्रम का कारण है न कि ज्ञान से मिथ्या या अन्यथा प्रतीति होना। इस प्रकार प्रभाकर यह सिद्ध करता है कि ज्ञान से जो प्रतीति होती है, वह सर्वदा 'ठीक' यथार्थ ही होती है, अन्यथा नहीं हो सकती। अतएव वस्तुओं के ज्ञान के आधार पर '*बाह्यार्थवाद*' को सिद्ध किया जा सकता है।

२६— *वेदान्त (उत्तरमीमांसा)*

बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र : वेदान्त या उत्तर-मीमांसा जैसा कि ऊपर कहा गया है उपनिषदों के तत्त्वज्ञान पर निर्भर है, जिसका सारांश यही है कि इस विश्व में परिवर्त्तनशील जगत् के जो नाना रूप आकार आदि

दीखते हैं, वे सब बदलते रहते हैं। उनका आधार और यथार्थ तत्त्व 'ब्रह्म' है जो कि अखण्ड, एकरस और अद्वैत है और जो हमारी प्रत्येक व्यक्ति की 'अन्तरात्मा' के रूप में है, अर्थात् इस विश्व का परम तत्त्व हमारी अन्तरात्मा ही है। उपनिषदों के इस सिद्धान्त को लेकर उसका प्रतिपादन करने के लिये और उसके अनुसार सारे उपनिषदों के वाक्यों की अर्थ-संगति करने के लिये बादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' बनाये जिन्हें वेदान्तसूत्र भी कहते हैं। यह ब्रह्मसूत्र जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मीमांसा के समकालीन हैं।

वेदान्त के पाँच सम्प्रदाय : उपनिषदों का प्रतिपाद्य तत्त्व क्या है, उसके स्वरूप के विषय में मत-भेद होने से वेदान्त में पाँच सम्प्रदाय हो गये, जिनमें शंकर का अद्वैतवाद मुख्य है और वह एक शैव सम्प्रदाय माना जाता है, बाकी वेदान्त के चारों सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने जाते हैं। इन सभी सम्प्रदायों ने अपने अपने मत के अनुसार (१) उपनिषद्, (२) ब्रह्मसूत्र, और (३) गीता की टीका की है। इन तीनों ग्रन्थों को *प्रस्थानत्रयी* कहते हैं। वेदान्त के कालक्रम के अनुसार पाँच सम्प्रदाय निम्न प्रकार से हैं :—

(१) शङ्कर का अद्वैतवाद (८वीं सदी)] शैव
(२) रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद (१०–११वीं सदी)
(३) निम्बार्क का द्वैताद्वैत सम्प्रदाय (१२वीं सदी)
(४) माध्व का द्वैत सम्प्रदाय (१३वीं सदी)
(५) वल्लभ का शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय (१५वीं सदी)
} वैष्णव

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाँचों वेदान्त-सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्य दक्षिण भारत के हैं।

शङ्कर का अद्वैतवाद : साधारणतया 'वेदान्त' से शङ्कर का अद्वैतवाद ही समझा जाता है। उपनिषदों ने यह सिद्धान्त बताया था कि परिवर्त्तनशील जगत् का यथार्थ तत्त्व 'ब्रह्म' है। परन्तु यह जगत् सर्वथा असत्य और भ्रममात्र है ऐसा सिद्धान्त उपनिषदों में बहुत स्पष्ट रूप से

नहीं है ; इस सिद्धान्त का प्रवर्त्तक शङ्कर ही माना जाता है। यह स्पष्ट है कि शङ्कर बौद्धों के शून्यवाद और विज्ञानवाद से बहुत प्रभावित हुआ था और उसी के आधार पर शङ्कर ने, या शङ्कर के पूर्व गौडपाद ने, माण्डूक्य उपनिषद् की कारिकाओं की व्याख्या में 'जगत्' के असत्य और भ्रम होने का प्रतिपादन किया। यहाँ तक कि यह पुराने समय से जनश्रुति चली आती है कि शङ्कर का अद्वैतवाद जिसे 'मायावाद' भी कहा जाता है 'प्रच्छन्न बौद्ध'[1] (छिपा हुआ बौद्ध) दर्शन ही है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रत्येक भारतीय दर्शन का स्वरूप उसके '*कारणवाद*' में ही पाया जाता है। साँख्य 'सत्कार्यवादी' है। उसके अनुसार कार्य कारण से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है प्रत्युत वह पहिले से ही अव्यक्त रूप से अपने कारण में विद्यमान रहता है (जैसे 'पट' अव्यक्त रूप से तन्तु में रहता है वह तन्तु से भिन्न कोई नयी वस्तु नहीं है अर्थात् तन्तु ही बदलकर पट के रूप से आ जाते हैं)। 'कार्य' की उत्पत्ति यही है कि वह कारण के रूप में रहने वाली अपनी अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आ जाता है। इसी 'अव्यक्त' अवस्था से 'व्यक्त' अवस्था में आने को, अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलने को 'परिणाम' या 'विकार' कहते हैं। इसलिये साँख्य का कारणवाद 'परिणामवाद' या 'विकारवाद' कहलाता है। यह भी बतलाया जा चुका है कि न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' या 'आरम्भवाद' कहलाता है, क्योंकि उसके अनुसार 'पट' तन्तुओं से सर्वथा भिन्न एक नयी वस्तु है जो पहिले 'असत्' थी और जिसकी सर्वथा नयी उत्पत्ति (आरम्भ) होती है। यह स्पष्ट है कि मानव की साधारण बुद्धि (common-sense) साँख्य के सिद्धात को ही अपनाती है, क्योंकि उसके अनुसार 'तन्तु' ही 'पट' के रूप में बदल जाते हैं न कि पट कोई सर्वथा

---

1 *'मायावादमसच्छास्त्रं' प्रच्छन्नं बौद्धमेव तु।' पद्मपुराण का वाक्य जो कि विज्ञानभिक्षु के साँख्य-प्रवचनभाष्य की भूमिका में उद्धृत किया गया है।*

नयी वस्तु है। परन्तु साँख्य का सिद्धान्त जो कि साधारण बुद्धि को सबसे अधिक ठीक प्रतीत होता है, तर्क के प्रकाश में सबसे अधिक निर्बल ठहरता है, क्योंकि यदि 'पट' का 'तत्त्व' तन्तु में ही विद्यमान है और 'पट' तन्तु से भिन्न कुछ भी नयी वस्तु नहीं, तो 'पट' को तन्तु से भिन्न क्यों समझा जाता है। यह किसलिये कहा जाता है कि 'तन्तु पट के रूप में बदल गया'। वास्तविक तत्त्व तो यह है कि कोई परिवर्त्तन हुआ ही नहीं, इसलिये 'वेदान्त' में आकर सत्कार्यवाद 'विकारवाद' या 'परिणामवाद' के रूप में न रह कर 'विवर्त्तवाद' के रूप में बदल जाता है। 'विकार' का अर्थ यह है कि 'कारण' वस्तुतः (सचमुच) कार्य के रूप में बदल जावे जैसे कि (साँख्य के अनुसार) 'तन्तु' सचमुच 'पट' के रूप में बदल जाते हैं, परन्तु 'विवर्त्तवाद' का मतलब यह है कि 'कारण' वस्तुतः अपने ही स्वरूप में रहे, केवल बदल जाने का भ्रम मात्र हो, जैसे जब रस्सी में साँप की प्रतीति होती है तो रस्सी वस्तुतः बदलकर 'साँप' नहीं बन जाती केवल रस्सी में भ्रम से साँप की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'ब्रह्म' जो कि कारण है वस्तुतः 'जगत्' के रूप में नहीं बदलता केवल भ्रम से 'ब्रह्म' में जगत् की प्रतीति होती है। जैसे रस्सी में प्रतीत होने वाला 'सर्प' असत्य है, उसी प्रकार ब्रह्म में प्रतीत होने वाला संसार असत्य है, यही सिद्धान्त 'मायावाद' कहलाता है। शङ्कर के उत्तरकालीन वेदान्त ने इसी सिद्धान्त को और आगे तक बढ़ा कर यह बतलाया कि क्योंकि केवल 'ब्रह्म' अर्थात् अद्वैत तत्त्व ही सत्य है और वही 'मोक्ष' का स्वरूप है, इसलिये यह संसार और उसके द्वारा जीव का बन्धन होना और 'बन्धन' छूटकर 'मोक्ष' होना, यह सब भी असत्य है, वस्तुतः केवल 'ब्रह्म' की ही वास्तविक सत्ता होने से सब की 'मोक्ष' की ही (अर्थात् 'ब्रह्म' स्वरूप की ही) अवस्था सब समय विद्यमान है, अर्थात् शङ्करोत्तर वेदान्त ने यह बतलाया कि 'यह जगत् भ्रम है' यह भी भ्रम ही है अर्थात् किसी को वस्तुतः कोई भ्रम भी नहीं है प्रत्युत सब सर्वदा मोक्ष की अवस्था में ही विद्यमान हैं। जगत

के इस प्रकार सर्वथा 'असत्' होने का सिद्धान्त साधारण बुद्धि को न रुचा, इसलिये उस सिद्धान्त को 'विशिष्टाद्वैत' आदि का रूप दिया गया।

अद्वैतवाद का साहित्य : शङ्कर के अद्वैत सम्प्रदाय का साहित्य बहुत विस्तृत है। उसका बहुत ही संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है। शङ्कर के भी पहिले का इस सम्प्रदाय का ग्रन्थ माण्डूक्य उपनिषद् पर गौडपाद की कारिकाओं के रूप में है। उसके बाद उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर अर्थात् '*प्रस्थानत्रयी*' पर शङ्कर का भाष्य है जो कि इस सम्प्रदाय का आधार है। शङ्कर के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर (जो कि 'शारीरकभाष्य' कहलाता है) अनेक टीकायें हैं, जिनमें आनन्दगिरि और गोविन्दानन्द की और विशेषकर वाचस्पति मिश्र की 'भामती' टीका मुख्य समझी जाती हैं और भामती पर 'कल्पतरु' टीका तथा उस टीका पर 'कल्पतरुपरिमल' नाम की टीका है। इसके सिवाय शङ्कर के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर पद्मपाद रचित 'पद्मपादिका' नामक टीका है जो कि केवल चतुःसूत्री पर है। इस पद्मपादिका की अनेक टीकायें और टीकाओं पर भी क्रमशः अनेक टीकायें हैं। शङ्करोत्तरकालीन वेदान्त के मुख्य मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं, जो कि टीका के रूप में न होकर नवीन स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में हैं :— (१) श्री हर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' जो वेदान्त का सब से जटिल ग्रन्थ माना जाता है। जिसमें न्याय के पदार्थों का खण्डन कर अद्वैत तत्त्व की स्थापना की गई है, (२) चित्सुख की 'चित्सुखी', (३) मधुसूदन सरस्वती कृत 'अद्वैतसिद्धि' और उसकी गौडब्रह्मानन्दी टीका। ये तीनों ही शङ्करोत्तर वेदान्त के बहुत ही महत्त्वपूर्ण उच्च कोटि के जटिल ग्रन्थ समझे जाते हैं। वेदान्त की प्रक्रिया को समझने के लिये मध्यम श्रेणी के ग्रन्थों में निम्नलिखित उल्लेख करने योग्य हैं :— (१) विद्यारण्य की 'पञ्चदशी', (२) धर्मराजाध्वरीन्द्र की 'वेदान्तपरिभाषा' और (३) प्रकाशानन्द की 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' जिसमें 'दृष्टिसृष्टिवाद' का निरूपण है अर्थात् जिस पदार्थ का दर्शन या ग्रहण होता है उसी का दर्शन काल में निर्माण हो जाता है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य दार्शनिक बार्कले की 'esse

is percipi' (अर्थात् पदार्थ का तत्त्व उसका देखा जाना ही है) इस प्रसिद्ध उक्ति के समान है। इसके सिवाय अद्वैत वेदान्त को समझने के लिये एक सरल सुबोध छोटा सा ग्रन्थ सदानन्द का 'वेदान्तसार' है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत : रामानुज के अनुसार चेतन जीव और और जड जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म उनका निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। ब्रह्म के बिना उनका अस्तित्व नहीं। इसलिये एकमात्र अद्वैत तत्त्व ब्रह्म को कहा जा सकता है, परन्तु जीव और जड जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी असत् नहीं हैं। वे दोनों अर्थात् जीव और जड जगत् ईश्वर के शरीर के समान हैं, और जैसे जीवात्मा का स्थूल शरीर असत्य नहीं, इसी प्रकार वे भी असत्य नहीं और जीव तथा जड जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी ब्रह्म से भिन्न हैं, अर्थात् जिस प्रकार शरीर आत्मा नहीं हो सकता, इसी प्रकार वे भी ब्रह्म नहीं हो सकते। इसलिये ब्रह्म या ईश्वर का अद्वैत रूप जीव और जड जगत् के द्वैत रूप से विशिष्ट है, इसलिये इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। उपनिषदों के अनेक वाक्यों में जगह-जगह 'अद्वैत' तत्त्व और अनेक जगह 'द्वैत' तत्त्व दिखाई पड़ता है, विशिष्टाद्वैत उन दोनों का समन्वय कर देता है। शङ्कर के अद्वैतवाद में 'ज्ञान' पर ज़ोर है, परन्तु वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों में भक्ति पर ज़ोर है।

रामानुज का मुख्य ग्रन्थ वेदान्त का 'श्रीभाष्य' है। इसके सिवाय रामानुज ने भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा। उसके अन्य महत्त्वपूर्ण निबन्ध ग्रन्थ वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह और वेदान्त-दीप हैं।

निम्बार्क का द्वैताद्वैत : निम्बार्क के अनुसार तीन तत्त्व हैं। (१) चित् (जीव), (२) अचित् अर्थात् जड जगत् और (३) ईश्वर। वे तीनों क्रमशः भोक्ता, भोग्य और नियन्ता हैं। जीव 'ज्ञान स्वरूप' है। इसीलिये उसे उपनिषदों में 'प्रज्ञानघन' कहा गया। जीव के ज्ञानस्वरूप होने का अर्थ यह है कि जीव 'ज्ञान' भी है और 'ज्ञान वाला' भी है। जैसे कि सूर्य प्रकाश भी है और प्रकाश वाला भी है। इन तीनों तत्त्वों में अर्थात् चेतन,

जड और ईश्वर में परस्पर क्या सम्बन्ध है? निम्बार्क का उत्तर है कि न तो वह सर्वथा तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध है, क्योंकि वैसा मानने से उनके स्वभाव और गुणों का अन्तर कैसे होगा? और न उनका सम्बन्ध सर्वथा भेद का ही सम्बन्ध माना जा सकता है, क्योंकि यदि ईश्वर या ब्रह्म जीव और जड जगत् से सर्वथा भिन्न हो तो उसे अनन्त और सर्वव्यापक कैसे कह सकते हैं, वह तो उस दशा में ससीम हो जायगा। भेद का अर्थ है कि जीव और जड की पृथक सत्ता तो है, परन्तु वह ईश्वर के अधीन है, अर्थात् 'परतन्त्र सत्ताभाव' है, और अभेद का अर्थ यह है कि उनकी ईश्वर से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् 'स्वतन्त्रसत्ताऽभाव' है। इस प्रकार 'भेद' और 'अभेद' अर्थात् 'द्वैत' और 'अद्वैत' दोनों ही ठीक हैं। यह स्पष्ट ही है कि निम्बार्क का रामानुज से बहुत अधिक अन्तर नहीं है। निम्बार्क ने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' नामक टीका लिखी है।

माध्व का द्वैतवाद : ध्यान से देखा जाय तो चारों वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायों में से कोई भी अद्वैत तत्त्व को नहीं मानता, परन्तु वे किसी न किसी प्रकार 'द्वैत' से अद्वैत की सङ्गति करते हैं, परन्तु माध्व सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से 'द्वैतवादी' है और अद्वैत का खण्डन करता है। उसके अनुसार ब्रह्म, जीव और जड तीनों स्वतन्त्र नित्य पदार्थ हैं अर्थात् जीव और जड ब्रह्म से उत्पन्न नहीं हुये प्रत्युत वे स्वतन्त्र पदार्थ हैं। माध्वमत को 'द्वैतवाद' केवल इसलिये कहा जाता है कि वह अद्वैत को नहीं मानता। वस्तुतः उसे 'त्रैतवादी' कहना चाहिये, क्योंकि वह तीन स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। माध्व ने ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) का भाष्य किया है और उपनिषदों और गीता पर भी भाष्य किया है। प्राचीन ग्रन्थों के अर्थ कितने भिन्न भिन्न प्रकार से किये जा सकते हैं, इसका यह स्पष्ट उदाहरण है कि माध्व ने उन्हीं उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों का जिनका शङ्कर आदि ने अद्वैतपरक अर्थ लगाया है, स्पष्ट रूप से द्वैतपरक अर्थ किया है।

वल्लभ का 'शुद्धाद्वैत' सिद्धान्त : वल्लभ के अनुसार जीव, जड और ब्रह्म इन तीनों में से पहिले दोनों अर्थात् जीव और जड ब्रह्म से भिन्न

नहीं है, प्रत्युत वे भी ब्रह्मरूप ही हैं। जीव और जड की ब्रह्म के साथ एकता स्वतः अर्थात् स्वरूपता है अर्थात् वह शुद्ध एकता (शुद्ध अद्वैत) है। उसमें 'माया' का सम्पर्क नहीं होता। शङ्कर के अद्वैतवाद के अनुसार जीव और जड जगत् 'माया' की उपाधि से ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार 'माया' की उपाधि के होने से ब्रह्म का 'अद्वैत' रूप शुद्ध नहीं रहता, परन्तु वल्लभ के अनुसार 'माया' का कोई अस्तित्व ही नहीं। और जीव तथा जड जगत् दोनों स्वतः ब्रह्मस्वरूप हैं, इसलिये इस मत का नाम 'शुद्धाद्वैत' है। वल्लभ ने 'शुद्धाद्वैत' के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य किया है और स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं।

२७— *साँख्य सम्प्रदाय*

साँख्य-साहित्य : वैदिक दर्शनों में कदाचित् कपिल का साँख्य सम्प्रदाय सबसे पुराना है। शङ्कर ने अपने शारीरकभाष्य में श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वाक्य उद्धृत किया है कि 'कपिल आदि ऋषि थे जिन को ज्ञान प्राप्त हुआ'[1]। इसी प्रकार बौद्ध गाथाओं में भी कपिल को बुद्ध से भी प्राचीन माना गया है[2]। बुद्ध की जन्मभूमि का नाम 'कपिलवस्तु' भी कुछ इसी ओर संकेत करता है। 'संसार दुःखमय है'; यह साँख्य तत्त्वज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है जिसकी बौद्ध विचारधारा से स्पष्ट समता है; वैदिक दर्शनों में वेदान्त के सिवाय साँख्य ही दूसरा दर्शन है जिसका उपनिषदों के विचारों से साक्षात् सम्बन्ध है। इस प्रकार जहाँ एक ओर कपिल का साँख्य सम्प्रदाय सबसे प्राचीन प्रतीत होता है, वहाँ दूसरी ओर वैदिक छै दर्शनों के सूत्रों में कपिल के नाम से माने जाने वाले साँख्य-प्रवचनसूत्र सबसे नवीन हैं और यहाँ तक कि वे ईसा की चौदहवीं सदी में

---

1 *'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति' श्वेताश्वतर उपनिषद् ५।२। शारीरक भाष्य* II. i. 1. *में उद्धृत*।

2 देखो *डा० राधाकृष्णन्* Indian Philosophy पृ० २५१ फुटनोट् ३।

बने, ऐसा आलोचकों का विचार है, क्योंकि सर्वदर्शनसंग्रह में (जो १४वीं सदी का ग्रन्थ है) साँख्य के निरूपण में कारिकायें उद्धृत की गई हैं, न कि साँख्यप्रवचन के सूत्र। यह स्पष्ट है कि इस समय साँख्य सम्प्रदाय की सबसे प्राचीन पुस्तक *ईश्वरकृष्ण* रचित *'साँख्यकारिका'* है जिसका समय ईसा की तृतीय शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता। बौद्धभिक्षु परमार्थ ने छठी सदी में इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। वसुबन्धु ने (जिस का समय चौथी सदी है) साँख्यकारिका को उद्धृत किया है[1]। साँख्यकारिकाओं पर सबसे पुराना भाष्य *'गौडपाद'* का है जिसका समय आठवीं सदी है। साँख्यकारिका पर दूसरी टीका वाचस्पति मिश्र (९वीं सदी) की है जिसका नाम *'साँख्यतत्त्वकौमुदी'* है, जो कि कदाचित् साँख्य सम्प्रदाय का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैसा कि ऊपर कहा गया साँख्यसूत्र जिन का नाम *'साँख्यप्रवचनसूत्र'* है, १४वीं सदी का बना हुआ है। उन पर सबसे पहिली वृत्ति *'अनिरुद्ध'* (१५वीं सदी) की है और सबसे महत्त्वपूर्ण भाष्य *'विज्ञानभिक्षु'* (१६वीं सदी) का है। सूत्रों में और विज्ञानभिक्षु के भाष्य में साँख्यशास्त्र वेदान्त के बहुत समीप आ जाता है।

साँख्य के मुख्य सिद्धान्त : साँख्य की मुख्य समस्या है कि मनुष्य तीन प्रकार से दुःखों से घिरा हुआ है। तीन प्रकार के दुःख हैं :— (१) *आध्यात्मिक* जैसे मानसिक चिन्ता, शारीरिक रोग आदि; (२) *आधिभौतिक* जो दूसरे मनुष्य, चोर आदि या दूसरे हिंसक प्राणी आदि से दुःख उत्पन्न होते हैं; (३) *आधिदैविक*, जैसे भूचाल, आँधी, दुर्भिक्ष आदि के दुःख। मनुष्य सब दुःखों से बचना चाहता है। साँख्य का उत्तर है कि यदि दुःख मनुष्य का स्वभाव है, तो स्वभाव कदापि नहीं छूट सकता और मनुष्य दुःखों से कभी नहीं बच सकता। इसलिये दुःख से बचने की इच्छा ही सिद्ध करती है कि दुःख मनुष्य का स्वभाव नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक धर्म (incidental attribute) है जिससे मनुष्य अलग हो

---

1 *वही, पृ० २२५ फुटनोट १।*

सकता है। इसलिये साँख्य एक मौलिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जो कि भारतीय दर्शन में पहिले पहल साँख्य ने ही प्रस्तुत किया कि चेतन जिसको साँख्य 'पुरुष' नाम से कहता है सुख-दुःख से पृथक् है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि सुख भी दुःख के साथ ही जुड़ा हुआ है। और सुख-दुःख से पृथक् होने का अर्थ यह है कि प्रत्येक क्षण होने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञानों से और प्रवृत्तियों से भी पृथक् है। इस प्रकार यह सारे मनोवैज्ञानिक धर्म— ज्ञान, सुख, दुःख, प्रवृति, चेष्टा आदि— 'बुद्धि' के ही धर्म हैं पुरुष के नहीं। पुरुष सर्वथा निर्लेप है अर्थात् वह इन सब मानसिक प्रवृत्तियों से रहित है, वह केवल शुद्ध चेतन अथवा 'चिति' (pure consciousness) मात्र है। पुरुष के अतिरिक्त इस संसार को बनाने वाली प्रकृति (मूल तत्त्व) है जो कि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन प्रकार के धर्मों से या तत्त्वों से बनी हुयी है। इस प्रकृति का सबसे पहिला कार्य (effect) जो कि सबसे सूक्ष्म है, वही बुद्धि या महत्तत्त्व है। बुद्धि प्रकृति का कार्य होने से यद्यपि जड है, परन्तु पुरुष के प्रभाव से (उसकी समीपता से) वह चेतन सी हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि धर्म जो न्याय में 'आत्मा' के धर्म माने गये हैं, वे ही साँख्य में बुद्धि के धर्म माने गये हैं।

न्याय-वैशेषिक ने शरीर से अतिरिक्त 'आत्मा' सिद्ध किया था जिसमें ज्ञान आदि धर्म रहते हैं। साँख्य ने कहा कि यद्यपि ज्ञान आदि का मूल स्रोत तो शुद्ध चेतन पुरुष ही है, परन्तु वस्तुतः वे परिवर्त्तनशील ज्ञान आदि धर्म जड बुद्धि में रहते हैं, क्योंकि यदि यह पुरुष के धर्म मान लिये जायं तो पुरुष भी परिवर्त्तनशील हो जायगा। इसलिये साँख्य निर्लेप विशुद्ध चेतन रूप 'पुरुष' की स्थापना करता है। परन्तु संसार में पुरुष अनेक हैं, जितने प्राणी हैं, उतने ही पुरुष हैं। यह स्पष्ट है कि जब पुरुष निर्लेप और विशुद्ध चेतना मात्र है और सारे व्यक्तिगत धर्म अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि बुद्धि में ही होते हैं तो अनेक बुद्धियों का होना ही पर्याप्त है, अनेक पुरुष मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये वेदान्त के अनुसार चेतन तत्त्व केवल एक ब्रह्म है। इस प्रकार साँख्य

अपने विशुद्ध चेतना के सिद्धान्त से वेदान्त के लिये मार्ग तय्यार कर देता है। इस चेतना रूप आत्मा के सिद्धान्त की दृष्टि से सांख्य सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक और वेदान्त के बीच में स्थित है।

पुरुष को विशुद्ध निर्लेप चेतन मानने का सिद्धान्त उस प्रश्न का उत्तर है जिससे कि सांख्य का तत्त्वज्ञान आरम्भ होता है, अर्थात् दुःख निवृत्ति कैसे हो ? जब दुःख पुरुष का धर्म ही नहीं, केवल बुद्धि का धर्म है और केवल भ्रमवश अर्थात् बुद्धि और पुरुष में विवेक न करने से बुद्धि का धर्म पुरुष में प्रतीत होता है तो दुःखनिवृत्ति तत्त्वज्ञान हो जाने मात्र से हो जाती है और तत्त्वज्ञान का स्वरूप यह होगा कि 'पुरुष' और 'बुद्धि' में विवेक (discrimination) किया जाय, इसी को शास्त्रीय भाषा में 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' कहते हैं अर्थात् सत्त्व=बुद्धि और पुरुष की अन्यता अर्थात् पृथक् होने की ख्याति अर्थात् ज्ञान। इसी विवेकख्याति को 'प्रसंख्यान' भी कहा जाता है, यह स्पष्ट है कि 'सांख्य' नाम भी इसी 'विवेकख्याति' या 'प्रसंख्यान' के कारण पड़ा है। कोई कोई लोग यह भी कहते हैं कि सांख्य में पुरुष, प्रकृति और प्रकृति के विकार सब मिलाकर २५ पदार्थ गिनाये गये, उनकी 'संख्या' के कारण 'सांख्य' नाम पड़ा, परन्तु यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता।

शङ्करोत्तर वेदान्त में इस बात पर जोर दिया गया था कि मोक्ष की अवस्था अथवा 'ब्रह्मरूपता' सदैव अर्थात् बद्ध अवस्था में भी वस्तुतः है, क्योंकि 'माया' और उसकी उपाधि से प्रकट होने वाला जगत्, बन्ध आदि सब असत्य हैं। यही विचार सांख्य के पिछले काल में अर्थात् सांख्य-प्रवचन सूत्रों में और विज्ञानभिक्षु के भाष्य में पाया जाता है। इस प्रकार जैसा कि ऊपर कहा गया है सांख्य वेदान्त के समीप आता जाता है।

वेदान्त के 'विवर्त्त' रूप कारण पर विचार करते हुये न्याय-वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त के कारणवाद पर आलोचनात्मक विचार किया गया था, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य का 'परिणामवाद' या 'विकार-वाद' न्याय-वैशेषिक के आरम्भवाद और वेदान्त के विवर्त्तवाद के बीच में

है। वस्तुतः सांख्य का 'विकारवाद' ही वेदान्त के विवर्त्तवाद के लिये भूमिका तैयार कर देता है, जैसा कि वहाँ स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार कारणवाद की दृष्टि से भी सांख्य सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक और वेदान्त के बीच में स्थित है।

सांख्य ईश्वर को नहीं मानता और वह ईश्वर मानने के विरोध में युक्तियाँ देता है। पूर्वमीमांसा भी ईश्वर को नहीं मानता। पहिले (परि० १४ में) यह दिखाया जा चुका है कि किसी भी वैदिक-दर्शन की दार्शनिक प्रक्रिया में ईश्वर को स्थान नहीं दिया गया है।

योग दर्शन और उसका साहित्य : योग के विषय में यह बताया जा चुका है (परि० ११) कि लगभग प्रत्येक दर्शन का योग की प्रक्रिया से सम्बन्ध है और वहीं यह भी बताया गया था कि पतञ्जलि का प्रचलित योगदर्शन सांख्य के ही दार्शनिक सिद्धान्तों को मानता है, इसलिये सांख्य के प्रकरण में योगसम्बन्धी साहित्य के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि छै दर्शनों के अन्तर्गत माने गये 'योगसूत्र' पतञ्जलि कृत हैं और उन पर 'व्यास' कृत योगशास्त्र का भाष्य सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। भोजराज की वृत्ति भी योगसूत्रों पर है। इसके सिवाय वाचस्पति मिश्र की योगव्यासभाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी' टीका है। और विज्ञानभिक्षु कृत 'योगवार्त्तिक' भी व्यासभाष्य पर लिखा गया ग्रंथ है।

———

II
न्याय-वैशेषिक का इतिहास

१—दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों का कालक्रम

हमारी संस्कृत की पुरानी अध्ययन परम्परा इतनी संकुचित और दूषित रही है कि आधुनिक पाश्चात्य और कतिपय भारतीय विद्वानों द्वारा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की खोज और प्रकाशन से पूर्व १८वीं सदी में यह अवस्था पहुंच चुकी थी, कि सिवाय वेदान्त के कतिपय ग्रन्थों के और नव्यन्याय के जो पठन-पाठन में प्रचलित थे, दर्शनों के अधिकांश ग्रन्थ लुप्तप्राय हो चुके थे। १८वीं सदी में पुर्त्तगाली मिशनरियों ने जो पैरिस के पुस्तकालय के लिये हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह कर रहे थे, अपने पत्रों में लिखा कि नव्यन्याय के अतिरिक्त दर्शनों के अन्य ग्रन्थ अप्राप्य हैं, यहां तक कि उस समय उन लोगों को गोतम के न्यायसूत्रों का ढूँढना भी कठिन हो गया था[1]। मूल दर्शनसूत्रों के अतिरिक्त ईसा की द्वितीय शताब्दी से लेकर १०वीं या ११वीं शताब्दी तक दर्शन के क्षेत्र में और भी अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखे गये। आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व इन ग्रन्थों के विषय में बहुत ही कम परिचय था जिसका एक नमूना यह है कि फिट्ज़वर्ड हाल ने भारतीय दर्शन-ग्रन्थों की सूचनापुस्तक में (सन् १८५९) लिखा कि उद्योतकर और उदयन (जो कि उद्योतकर से लगभग ४०० वर्ष बाद हुआ) एक ही थे। आज हर्ष की बात है कि कतिपय

---

1 *विद्याभूषण, सतीशचन्द्र, हिस्टरी आफ इण्डियन् लॉजिक,* (History of Indian Logic) *पृ० ४८८ से आगे।*

पाश्चात्य और भारतीय अन्वेषकों के प्रयत्न के फलस्वरूप हमें भारतीय दर्शनों के, विशेषकर न्याय-वैशेषिक के, ग्रन्थों के विषय में और उनके काल-क्रम के विषय में पर्याप्त ज्ञान है। भारतीय दर्शन, विशेषकर न्याय-वैशेषिक, के ग्रन्थों के कालनिर्णय के विषय में, जैकोबी[1] (जर्मन), बोडास[2] (महाराष्ट्र), सुआली[3] (इटैलियन), श्चेरबात्स्की[4] (रशियन), फैडेगन[5] (डच), एच० उई[6] (जापानी), कीथ[7] (अङ्गरेज), विद्याभूषण[8] (बंगाली), कविरा-

---

1 *जैकोबी : (१) भारतीय दर्शनसूत्रों की तिथि पर जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी (१९११ ई०) में लेख, (२) इण्डियन लॉजिक (जर्मन), (३) भारतीय दर्शनों का प्रारम्भिक इतिहास (जर्मन) १९१८ ई०।*

2 *बोडास : भारतीय तर्क का ऐतिहासिक विवेचन, रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई ब्राञ्च के जर्नल की १९वीं जिल्द में प्रकाशित लेख जो कि बोडास-सम्पादित (अङ्गरेज़ी नोट्‌ सहित) तर्कसंग्रह में भी दिया गया है।*

3 *सुआली : इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलासफी* (Introduction to Indian Philosophy) (इटालियन्)।

4 *श्चेरबात्स्की : एपिस्टिमॉलोजी एण्ड लॉजिक ऐज़ टाट बाइ लेटर बुद्धिस्ट्स* Epistemology and Logic as taught by Later Buddhists (in Russian, 1909), *फ्रेञ्च जर्नल* 'Le Museon' vol. V *में लेख।*

5 *फैडेगन : वैशेषिक सिस्टम्* Vaisesika System 1918.

6 *एच० उई : वैशेषिक फिलासफी एकॉर्डिंग टू दशपदार्थशास्त्र* (Vaisesika Philosophy according to Dasapadarthasastra with Chinese Text, 1917).

7 *कीथ : इण्डियन् लॉजिक एण्ड एटामिज्म* 1921.

8 *विद्याभूषण, सतीशचन्द्र : हिस्टरी आफ इण्डियन लॉजिक।*

ज[9] (बनारस), रैण्डल[10] जैसे विद्वानों ने बहुत कुछ प्रकाश डाला है परन्तु यह स्पष्ट है कि अब भी हमारा न्याय-वैशेषिक शास्त्र के इतिहास का परिचय बहुत सीमित है। वैदिक दर्शनों के सूत्रों की तिथि के विषय में तो अभी तक भी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

२— वैदिक दर्शनसम्प्रदायों और दर्शनसूत्रों का कालक्रम

वैदिक दर्शन-सम्प्रदायों और उनके सूत्रों के कालक्रम के विषय में थोड़ा सा संकेत प्रथम भाग में उन उन दर्शनों के परिचय के साथ दिया गया है। सबसे पहली बात इस विषय में ध्यान देने की यह है कि दर्शन-सम्प्रदायों का प्रारम्भ, और उनके सूत्रों का बनना, यह दो भिन्न भिन्न बातें हैं। उन दोनों के बीच में बहुत बड़ा अन्तर हो सकता है, जिसका संकेत सांख्य के विषय में (भाग १, परि० २७) में किया जा चुका है। इसलिये जब हम दर्शनों के तुलनात्मक कालक्रम पर विचार करें तो हमें पहिले यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि हम किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के उद्गम के विषय में विचार कर रहे हैं, या उसके सूत्रों के बनने के विषय में।

वैदिक दर्शनों में सांख्य कदाचित् सबसे पुराना है परन्तु उस दर्शन के सूत्र अर्थात्, सांख्यप्रवचनसूत्र, सबसे नवीन हैं, यहाँ तक कि १४वीं शताब्दी के बने हुये हैं (देखो भाग १, परि० २७)। योग की प्रक्रिया बहुत प्राचीन है, परन्तु पतञ्जलि के योगसूत्र, सांख्यप्रवचनसूत्रों को छोड़कर, सबसे नये हैं और उनका समय ईसा की पाँचवी शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता। दार्शनिक सम्प्रदाय के उद्गम की बात को

---

9 *कविराज, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ, सरस्वती भवन स्टडीज़ में १, ३, ४, ५ और ७वीं जिल्द में न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों और उनके कालक्रम के विषय में लेख।*

10 *रैण्डल : इण्डियन् लॉजिक इन अर्ली स्कूल्स* (Indian Logic in Early Schools) 1930.

छोड़कर जहाँ तक केवल सूत्रों का प्रश्न है, बादरायण के ब्रह्मसूत्र और जैमिनि के पूर्व-मीमांसासूत्र वैदिक दर्शनसूत्रों में सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। उन दोनों सूत्रों में एक दूसरे का संकेत होने से संभवतः उन दोनों सूत्रों का समय एक ही हो। परन्तु सम्प्रदाय के उद्गम की दृष्टि से पूर्व-मीमांसा सम्प्रदाय प्राचीनतर प्रतीत होता है, क्योंकि ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड से पहिले आता है। वैशेपिक को यदि सम्प्रदाय के रूप में देखें तो कदाचित् उपर्युक्त दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों से वह प्राचीन है, परन्तु जहाँ तक वैशेपिक सूत्रों का प्रश्न है, उनमें 'अविद्या', 'लिङ्ग' और 'प्रत्यगात्मन्' आदि शब्द ब्रह्मसूत्रों से लिये गये प्रतीत होते हैं इसलिये वैशेपिक सूत्र का समय उपर्युक्त दोनों सूत्रों के बाद का होना चाहिये। 'न्यायदर्शन' सम्प्रदाय के रूप में भी वैशेपिक से बाद का है और स्पष्टतया न्यायसूत्र भी वैशेपिकसूत्रों से बाद के हैं। इस प्रकार वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों और दार्शनिक सूत्रों का कालक्रम संभवतः निम्न प्रकार से रक्खा जा सकता है :—

वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों का कालक्रम

(१) सांख्य।
(२) योग।
(३) वैशेषिक।
(४) पूर्वमीमांसा।
(५) वेदान्त।
(६) न्याय।

वैदिक दार्शनिक सूत्रों का कालक्रम

(१) पूर्वमीमांसासूत्र } संभवतः समकालीन
(२) वेदान्तसूत्र }
(३) वैशेषिकसूत्र।
(४) न्यायसूत्र।

(५) योगसूत्र।
(६) साँख्यप्रवचनसूत्र।

३—दर्शनसूत्रों का समय

भिन्न-भिन्न वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रारम्भ होने की तिथि के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना असम्भव है, केवल तुलनात्मक रीति से यह कहा जा सकता है कि कालक्रम में कौन सम्प्रदाय पहिले और कौन पीछे हुआ। परन्तु दर्शनसूत्रों की तिथि के विषय में कुछ अधिक निर्णयात्मक रूप से कहा जा सकता है। उसके लिये हमारा मुख्य आधार बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का वैदिक दर्शन-सूत्रों में उल्लेख ही है। सौभाग्य की बात है कि बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों की तिथि हमें बहुत अंश तक निश्चित रूप से ज्ञात है। ब्रह्मसूत्रों और न्यायसूत्रों में शून्यवाद का खण्डन है। श्चेरबात्स्की का विचार है कि उनमें विज्ञानवाद का भी खण्डन है, और विज्ञानवाद के प्रारम्भ का समय चौथी शताब्दी है, इसलिये श्चेरबात्स्की ने यह मत प्रकट किया (देखो भाग १, परि० २५) कि वैदिक दर्शन-सूत्रों का समय ५वीं शताब्दी के बाद का होना चाहिये। परन्तु वात्स्यायन भाष्य का खण्डन दिङ्नाग ने किया जिसका समय पाँचवी शताब्दी है, ऐसी दशा में न्यायसूत्रों का समय चौथी शताब्दी के आरम्भ से बाद का नहीं हो सकता और वैशेपिक तथा ब्रह्म-सूत्र और पूर्वमीमांसा-सूत्रों का समय न्याय से पहिले का है। जैकोबी ने यह स्पष्ट रूप से दिखाया है कि जहाँ-जहाँ वैदिक दर्शनसूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन प्रतीत होता है, वहाँ वस्तुतः शून्यवाद का ही खण्डन है, क्योंकि बाह्य जगत् का दोनों समान रूप से खण्डन करते हैं। इसलिये उन दोनों का विवेक बहुधा नहीं हो पाता। शून्यवाद के प्रारम्भ का समय ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी है। इसलिये वैदिक दर्शन-सूत्रों का समय द्वितीय शताब्दी के बाद हो सकता है। इस प्रकार पूर्व-मीमांसा और ब्रह्म-सूत्र का समय तृतीय शताब्दी का प्रारम्भ, वैशेषिक का तृतीय शताब्दी का मध्य और न्याय-सूत्रों का समय तृतीय शताब्दी का अन्त माना जा

सकता है। योगसूत्रों का समय ईसा की पाँचवी शताब्दी से पहिले का नहीं हो सकता और साँख्य-प्रवचन-सूत्रों का समय जैसा कि पहिले कहा जा चुका है (देखो भाग १, परिच्छेद २७) चौदहवीं शताब्दी है। परन्तु पुरानी रूढि के मानने वाले भारतीय लेखकों में साधारणतया यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि दर्शनसूत्रों का समय, ऊपर जो समय दिखाया गया है, उसकी अपेक्षा बहुत प्राचीन रक्खें।

४ *वैशेषिक सम्प्रदाय की प्राचीनता*

सूत्रों को छोड़कर यदि सम्प्रदाय के प्रारम्भ होने पर विचार किया जाय तो सांख्य और वैशेषिक दोनों ही बहुत प्राचीन हैं। चीनियों के बौद्धग्रन्थ-संग्रह में केवल दो ही भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख है एक सांख्य और दूसरा वैशेषिक। उन्होंने सांख्य में ईश्वरकृष्ण की '*सांख्यकारिका*' का और वैशेपिक में '*दशपदार्थशास्त्र*'[1] नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। यद्यपि यह दोनों ग्रन्थ बहुत प्राचीन नहीं हैं; परन्तु यह स्पष्ट है कि बौद्ध इन दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों को प्राचीन मानते हुये उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। बौद्ध जनश्रुति वैशेषिक की अतिप्राचीनता को द्योतित करती है। आर्यदेव के शतशास्त्र के टीकाकार चि-त्सान के अनुसार वैशेषिक के प्रवर्त्तक का नाम 'उलूक' था और वह बुद्ध से ८०० वर्ष पूर्व हुआ था। दिन में वह ग्रन्थ रचना करता और रात में भिक्षा के लिये निकलता, इसीलिये उसका नाम उलूक पड़ा। उसने एक लाख श्लोकों का वैशेषिक शास्त्र बनाया था[2]। वैशेषिक के विषय में बौद्ध साहित्य में सबसे पुराना उल्लेख 'मिलिन्द पण्ह' में है[3], जहाँ यह कहा गया है कि राजा मिलिन्द (वैक्ट्रिआ का राजा मीनान्दर, १५० बी. सी.)

---

1 *इस ग्रन्थ का चीनी मूल ग्रन्थ के साथ अंग्रेज़ी अनुवाद एच. उई ने टोकियो से (१९१७ में) प्रकाशित किया।*

2 *एच. उई : दशपदार्थशास्त्र पृ० ३*

3 *रैण्डल : 'इण्डियन लॉजिक इन् अर्ली स्कूल्स' पृ० १२*

सांख्य, योग, वैशेषिक और नीतिशास्त्र का ज्ञाता था। जैनों की प्राचीन जनश्रुति के अनुसार जो कि 'आवश्यक' या 'आवस्सय' (जैनियों के चार मूल सूत्रों में से द्वितीय) में विद्यमान है, रोहगुत्त, जिसका जीवनकाल वर्धमान से ५४४ वर्ष पूर्व माना जाता है, कतिपय ऐसे वैशेषिक सिद्धान्तों का प्रवर्त्तक है जो वर्त्तमान वैशेषिक में विद्यमान हैं[1]। इससे यह स्पष्ट है कि वैशेषिक सिद्धान्त बहुत पुराने हैं। कुमारलात के ग्रन्थ 'सूत्रालङ्कार' में (जिसको चीनियों ने भूल से अश्वघोष का ग्रन्थ समझ लिया था) एक कथा आयी है कि वैशेषिक के अनुयायी का एक बौद्ध से शास्त्रार्थ हुआ जिसमें बौद्ध ने 'बुद्ध' की सूर्य से और वैशेषिक की 'उलूक' से उपमा दी है जो कि स्पष्टतया उस शास्त्र के 'प्रवर्त्तक' का नाम उलूक होने की दृष्टि से है[2]। इसके सिवाय नागार्जुन ने जिसका समय ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी है और जिसके शून्यवाद का खण्डन न्यायसूत्रों में किया गया है, और इसलिये जिसे न्यायसूत्रों से प्राचीन मानना आवश्यक है, अपने ग्रन्थ 'दशभूमिविभाषाशास्त्र' में, सांख्य और योग के साथ साथ वैशेषिक का उल्लेख किया है। इस प्रकार उपर्युक्त अनेक प्राचीनता द्योतक उल्लेखों के कारण यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन का सम्प्रदाय बहुत ही प्राचीन है, वैशेषिक सूत्र यद्यपि पीछे के बने हुये हैं।

५— *न्याय-सम्प्रदाय का प्रारम्भ*

वैशेषिक-सम्प्रदाय की प्राचीनता के विषय में जिस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं, वैसे न्याय-सम्प्रदाय के विषय में नहीं, इसलिये यह तो स्पष्ट है कि न्याय-सम्प्रदाय उतना प्राचीन नहीं। साथ ही, न्याय का स्वरूप एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में (अर्थात् 'अनुमान' सम्बन्धी विषय को छोड़ कर शुद्ध दार्शनिक तत्त्व की दृष्टि से) कुछ अधिक स्पष्ट नहीं, इसलिये उसका प्रारम्भ बहुत अंश तक अनिश्चित सा ही है। न्याय के दार्शनिक सिद्धान्त बहुत अंश तक वैशेषिक से लिये गये हैं, किन्तु न्याय

---

1 एच. उई : *दशपदार्थशास्त्र* पृ० ३५ और आगे

2 वही, पृ० ४०

का अपना मुख्य विषय 'प्रमाणनिरूपण' है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रमाणनिरूपण या प्रमाणविद्या (epistemology) प्रत्येक भारतीय दर्शन के साथ जुड़ी हुई है। प्रत्येक भारतीय दर्शन प्रमाणों के स्वरूप के विषय में अपना अलग-अलग सिद्धान्त रखता है। इसलिये न्याय के विषय में यही कहा जा सकता है कि उसके कुछ सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त होते हुये भी प्रमाणों का निरूपण ही विशेष रूप से उसका विषय है। प्रमाणों में भी 'अनुमान' न्याय का मुख्य विषय है। वात्स्यायन ने लिखा है :— 'प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। प्रत्यक्ष और शब्द के आश्रित अनुमान होता है, उसी को अन्वीक्षा कहते हैं, उस (अनुमान) से जो प्रवृत्त हो वह 'आन्वीक्षिकी' न्यायविद्या अर्थात् न्यायशास्त्र है[1] ।" इस प्रकार वात्स्यायन ने न्याय के लिये 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग कर यह बतलाया कि 'न्याय' विशेषकर 'अनुमानविद्या' का नाम है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग 'न्याय' या 'अनुमानविद्या' के लिये कब से हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चार विद्यायें, (i) आन्वीक्षिकी, (ii) त्रयी, (iii) वार्त्ता और (iv) दण्डनीति गिनायी हैं। उसके बाद यह बताया गया कि 'साँख्य', 'योग' और 'लोकायत' यह तीन आन्वीक्षिकी हैं। यह स्पष्ट है कि यहाँ पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में 'आन्वीक्षिकी' शब्द सामान्य रूप से दर्शन-शास्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है,और उसके अन्तर्गत तीन दर्शन, जो कौटिल्य को पता थे, गिना दिये गये। आन्वीक्षिकी का शब्दार्थ है कि 'अन्वीक्षा' देखे हुये को फिर देखना अर्थात् मनन, और उससे सम्बन्ध रखने वाली विद्या 'आन्वीक्षिकी' है। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग दर्शनशास्त्र के लिये सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि 'मनन' ही दर्शनशास्त्र का यथार्थ तत्त्व है।

---

1 *प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः, प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या, न्यायशास्त्रम्। वात्स्यायनभाष्य १।१।१*

परन्तु जब 'देखे हुये को फिर देखने' का अर्थ लिया गया, 'अनुमान' और अनुमान के स्वरूप पर विशेष विचार किया गया तो दर्शनशास्त्र के लिये सामान्य रूप से प्रयुक्त 'आन्वीक्षिकी' 'अनुमानविद्या' के लिये प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि अनेक दर्शन-सम्प्रदायों के बीच में ही 'न्याय' का प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि प्रमाणों का निरूपण करना तो प्रत्येक दर्शनशास्त्र का विषय था ही। परन्तु विशेष रूप से 'न्याय' का प्रारम्भ किस दर्शन के साथ हुआ, यह विचारणीय हैं। इसका कुछ सङ्केत 'अनुमानविद्या' के लिये 'न्याय' शब्द के प्रयोग से ही मिल जाता है।

'न्याय' शब्द का प्राचीन प्रयोग पूर्वमीमांसा के लिये पाया जाता है। बुहलर ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि आपस्तम्बसूत्र (११-४-८-१३) और (११-६-१४-१३) में 'न्याय' शब्द का प्रयोग पूर्व-मीमांसा के अर्थ में ही है[1]। पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ जैसे 'न्यायकणिका', 'न्यायरत्नमाला' आदि में 'न्याय' शब्द पूर्वमीमांसा के अर्थ में ही आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ग्रन्थ के तात्पर्य को स्पष्ट करने वाले नियम 'न्याय' कहे जाते थे। विशेष कहावतों के लिये 'न्याय' शब्द का प्रयोग भी (जैसे 'सूची-कटाह-न्याय'[2] आदि स्थलों पर) पूर्वमीमांसा के 'न्याय' शब्द से ही सम्बद्ध दीखता है, न कि अनुमान-विद्या से। यह समझा जा सकता है कि किसी वाक्य के तात्पर्य को स्पष्ट करने वाले नियमों में 'अनुमान' (inference) एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रक्खेगा, इस प्रकार 'अनुमान' को मुख्य रूप से 'न्याय' (Nyaya par excellence) कहा जा सकता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है

---

1. *बुहलर : 'सैक्रेड लाज़'* (S. B. E. Series) *भाग १, आपस्तम्ब भूमिका पृ०* X—(ii)

2. *'सूची-कटाह-न्याय' का अर्थ यह है कि लुहार पहिले छोटा काम समाप्त करना चाहता है, इसलिये सुई पहिले बनाता है और कटाह बाद में।*

कि ब्राह्मणग्रन्थों के तात्पर्य को निश्चित करने के लिये जो नियम पूर्व-मीमांसा में बनाये गये, उन्हीं में 'अनुमान' भी था। अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ साथ विशेषकर पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय में 'अनुमान' का प्रारम्भिक विकास हुआ होगा, परन्तु जब अनुमान का निरूपण कुछ अधिक विस्तृत होने लगा तो वह अलग 'विज्ञान' हो गया। और पूर्व-मीमांसा शास्त्र का 'न्याय' शब्द विशेषकर इस नये विज्ञान या दार्शनिक सम्प्रदाय के लिये प्रयुक्त होने लगा जो कि 'न्याय' सम्प्रदाय कहलाया। परन्तु साथ ही पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय में 'न्याय' शब्द का प्रयोग अपने पुराने अर्थ में भी लगातार बना रहा। इधर नया न्याय-सम्प्रदाय केवल 'अनुमानविद्या' तक सीमित नहीं रह सकता था, क्योंकि प्रत्येक दर्शन के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी एक प्रकार के विज्ञान से विशेष संबंध रखता हुआ भी सर्वाङ्गपूर्ण हो। इसलिये न्याय-सम्प्रदाय ने अपना दार्शनिक स्वरूप वैशेपिक से लिया। यद्यपि उसका मुख्य विषय अनुमान था, पर साथ ही आत्मा, सुख, दुःख, मोक्ष आदि तत्त्वों का भी निरूपण किया। और इस प्रकार वह अलग दार्शनिक सम्प्रदाय हो गया।

६— न्याय-वैशेषिक का परस्पर सम्बन्ध

यद्यपि न्याय और वैशेषिक दार्शनिक सम्प्रदाय मूलतः अलग हैं, परन्तु उनमें बहुत प्राचीन काल से, यहाँ तक कि प्रारम्भिक समय से ही, पारस्परिक सम्पर्क चला आता है। इस सम्पर्क का संकेत महाभारत तक में विद्यमान है, वहाँ नारद को न्याय में प्रवीण बताते हुए कहा है कि वे 'ऐक्य', 'संयोग', 'समवाय' आदि के तत्त्व को जानते हैं, जो कि वस्तुतः वैशेषिकशास्त्र के विषय हैं[1]। इसी प्रकार चरकसंहिता में भी न्याय और

---

1. *न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः।*
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः॥

महाभारत शान्तिपर्व ५. (३. ५)

विद्याभूषण की हिस्ट्री ऑफ लॉजिक में उद्धृत पृ० ४३

वैशेषिक के पदार्थों का जिस प्रकार का वर्णन किया गया है, उससे भी यही ज्ञात होता है कि वे दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के पूरक थे। बहुत से न्याय सूत्र, विशेषकर जो कि भौतिक पदार्थों के स्वरूप के विषय में है, वे वैशेषिक से लिये गये प्रतीत होते हैं[1]। बोडास ने अपनी भूमिका में कुछ ऐसे वैशेषिकसूत्र भी बताये हैं जो कि न्यायसूत्रों के आधार पर बने हों[2], और इससे यह कल्पना हो सकती है कि वे दोनों सूत्र समकालीन हों, जिसके कारण दोनों में एक दूसरे का उल्लेख हो सकता है, परन्तु वैशेषिक सूत्र निश्चित रूप से न्याय से पुराने हैं, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कतिपय वैशेषिकसूत्रों के न्यायसूत्रों के आधार पर बने हुए प्रतीत होने का कारण यह है कि वैशेषिकसूत्रों में समय समय पर नये नये सूत्र जुड़ते रहे हैं। बोडास ने यह दिखलाया है कि वर्तमान वैशेषिक में अनेक ऐसे सूत्र हैं जिनका प्रशस्तपाद को पता ही न था और जो निस्संदेह प्रशस्तपाद के बाद में जोड़े गये हैं[3]। इसलिये न्यायसूत्रों से प्रभावित वैशेषिकसूत्र बाद के बने समझे जा सकते हैं। परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि इन दोनों सम्प्रदायों में घनिष्ठ सम्पर्क था। वात्स्यायन ने लिखा है कि 'मनस्' भी एक इन्द्रिय है, यह बात दूसरे तन्त्र से ले लेनी चाहिये[4]। और वह दूसरा तन्त्र वैशेषिक ही है, क्योंकि वैशेषिक में 'मनस्' को इन्द्रिय माना गया है। इसी प्रकार वात्स्यायन ने प्रमेयों की

---

1. *एच. उई ने दिखाया है कि निम्न न्यायसूत्र साथ में दिये गये वैशेषिक सूत्रों से लिये गये हैं :—*

न्यायसूत्र ३. १. ३६ = वैशेषिक सूत्र ४. १. ८

" २. १. ५३ = " " ७. २. २०

देखो 'उई' का दशपदार्थशास्त्र पृ० १६।

2. *देखो बोडास का लेख, जो उसके द्वारा सम्पादित तर्क-संग्रह की भूमिका में दिया हुआ है, पृ० २८।*

3. *वही पृ० २६*

4. *वात्स्यायनभाष्य १. १. ४*

व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भी प्रमेय हैं[1] ।' इस प्रकार वात्स्यायन ने वैशेषिक के पदार्थों को अपनाया है, यह स्पष्ट है। उद्योतकर ने इन्द्रियसन्निकर्ष के निरूपण में, 'संयुक्तसमवाय', 'संयुक्तसमवेतसमवाय' आदि वैशेषिक शब्द का इसी प्रकार प्रयोग किया है कि मानो वे अपने शास्त्र के ही शब्द हों। वाचस्पति-मिश्र की न्याय-वार्त्तिकतात्पर्यटीका में न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों के मिलाने की प्रक्रिया और भी आगे बढ़ जाती है।

इस प्रकार यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सम्पर्क बहुत पुराने समय से चला आता था, परन्तु बाह्य दृष्टि से एक ही ग्रन्थ में दोनों का मिश्रण कर देने का कार्य उदयनाचार्य ने किया, ऐसा समझा जाता है। उदयन की लक्षणावली विशेषकर वैशेषिक का ही प्रक्रिया ग्रन्थ है परन्तु फिर भी वह दोनों सम्प्रदायों के मिले हुये प्रक्रिया ग्रन्थों के समान ही है। इसके सिवाय 'कुसुमाञ्जलि', 'आत्मतत्त्वविवेक' आदि उदयनाचार्य के ऐसे ग्रन्थ हैं, जो दोनों ही न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायों के समान रूप से समझे जा सकते हैं। परन्तु उदयनाचार्य से भी पहिले शिवादित्य ने 'सप्तपदार्थी' नामक ग्रन्थ लिखा जिसको दोनों सम्प्रदायों का सबसे पहिला सम्मिलित प्रक्रिया ग्रन्थ कहा जा सकता है। दसवीं शताब्दी में दोनों सम्प्रदायों की एकता इतनी पूर्ण हो चुकी थी कि श्रीधर ने वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी अर्थात् प्रशस्तपाद की टीका रूप अपने ग्रन्थ का नाम 'न्याय' शब्द जोड़ते हुये 'न्यायकन्दली' रक्खा। ११वीं सदी के बाद से दोनों सम्प्रदाय एक सामान्य दर्शन के रूप में रहे हैं जिसके लिये 'न्याय-वैशेषिक' सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग आवश्यक है, जो कि इस ग्रन्थ में किया गया है।

७— *न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के तीन युग*

बोडास ने न्याय-वैशेषिक के इतिहास को तीन युगों में इस प्रकार

---

1. *'अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्'*
वात्स्यायन भाष्य १. १. ९

बाँटा है कि पहिला 'सूत्रयुग' जिसमें न्याय-वैशेषिक के सूत्रों के सिवाय उसने प्रशस्तपाद को भी सम्मिलित किया है और दूसरा टीका या भाष्यों का युग जो कि वात्स्यायन से प्रारम्भ होकर तेरहवीं शताब्दी तक चला जाता है और तीसरा स्वतन्त्र निबन्धों या प्रकरण ग्रंथों (manuals) का युग जिसमें दोनों दर्शनों पर स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ या निबन्ध लिखे गये। यह स्पष्ट है कि यह विभाग केवल बाह्य आकृति पर आश्रित और अवैज्ञानिक है, इसमें दार्शनिक विचारों के विकास की दृष्टि से विभाग नहीं है। साथ ही एक प्रकार के ग्रन्थ दूसरे युग में चले जाते हैं। उदाहरणार्थ 'प्रशस्तपाद' जो कि सूत्रयुग के साथ लिया गया है, भाष्य लिखने वाले वात्स्यायन के बहुत बाद का है। इसी प्रकार शङ्कर मिश्र की वैशेषिकसूत्रों पर तथा विश्वनाथ की न्यायसूत्रों पर टीका १५वीं और १६वीं सदी की हैं जो कि स्वतन्त्र ग्रन्थों का युग है। इतना ही नहीं, जयन्त की न्यायमञ्जरी और उदयन की कुसुमाञ्जलि जो कि टीका युग के ग्रन्थ हैं, स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में हैं, न कि टीका के रूप में। स्वयम् प्रशस्तपाद का ग्रन्थ जो कि सूत्रयुग में रक्खा गया है, स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में प्रक्रिया ग्रन्थ है। बोडास ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि इस प्रकार के युग-विभाजन में यह त्रुटि रह ही जाती है कि एक के ग्रन्थ दूसरे युग में पाये जायँ।

डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी न्याय-वैशेषिक सम्प्रदायों को तीन युगों में बांटा है। विभागीकरण किस आधार पर किया है, इस पर उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं दी है। उनके अनुसार तीन युग, प्राचीन काल, मध्यम काल और आधुनिक काल हैं। प्राचीन युग में वैशेषिक और न्याय के सूत्र, उनके भाष्य तथा भाष्यों पर टीकायें तथा उपटीकायें सम्मिलित हैं। 'मध्यम काल' का युग डा० विद्याभूषण ने बौद्ध और जैनों के न्याय के लिये रक्खा है और आधुनिक काल बौद्धों के इस देश से चले जाने के बाद ११वीं सदी से प्रारम्भ होता है, जिसमें स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में प्रकरण

ग्रन्थ लिखे गये, जैसा कि ऊपर बताया गया है[1]। यह विभागीकरण पहिले से भी अधिक दूषित है। यह तो स्पष्ट ही है कि समय की दृष्टि से देखा जाय तो एक प्रकार के ग्रन्थ दूसरे युग में पर्याप्त रूप से पाये जाते हैं। 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका' या 'किरणावली', 'कन्दली' आदि ग्रन्थ जो कि नवीं या दसवीं सदी के हैं, प्राचीन युग में गिने जायंगे। दूसरी ओर असङ्ग और वसुबन्धु के ग्रन्थ जो कि सम्भवतः चौथी शताब्दी के हैं और न्यायसूत्रों से कुछ ही बाद के हैं तथा उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जो कि प्रथम शताब्दी का कहा जाता है और कदाचित् न्यायसूत्रों से भी पहिले का है, मध्यकाल में गिने जायंगे। असली बात तो यह है कि वैदिक और बौद्ध न्याय का विकास लगभग साथ-साथ ही हुआ है, उनमें से एक को प्राचीन और दूसरे को मध्यकालीन कहना बिल्कुल अयुक्त है। साथ ही जैन और बौद्ध न्याय को मध्यकालीन कहने से यह भी तो ध्वनि निकलती है कि मानों मध्यकाल में न्याय-वैशेषिक-साहित्य का विकास बन्द ही रहा हो।

उपर्युक्त दोनों विभागीकरणों में जो सबसे बड़ा दोष है, वह यह है कि किसी सम्प्रदाय के इतिहास को अनेक युगों में बाँटने का मुख्य आधार विचारों और सिद्धान्तों का विकास होना चाहिये, और उस प्रकार किया गया विभागीकरण ही वस्तुतः वैज्ञानिक कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों के विकास के इतिहास की सब से महत्त्वपूर्ण घटना दिङ्नाग का प्रादुर्भाव है जिसने कि बौद्ध तर्क (Logic) और ज्ञान-सिद्धान्त (epistemology) को एक नया ही रूप दिया जिसके कारण वैदिक दर्शन-सम्प्रदायों में विशेषकर न्याय-वैशेषिक क्षेत्र में, एक बड़ी खलबली मच गयी। उसके बाद न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय जिसके साथ पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय भी जुड़ा हुआ था, उसमें और दिङ्नाग सम्प्रदाय में लगातार छै शताब्दियों तक (अर्थात् ५वीं से लेकर ११वीं तक) संघर्ष चला, जिसके फलस्वरूप पूर्वमीमांसा के क्षेत्र में कुमारिल और प्रभाकर ने

---

1 डा० विद्याभूषण : *हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक।*

ज्ञान-सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक नये सिद्धान्तों की स्थापना की, और न्याय-वैशेषिक ने अपने सिद्धान्तों का अनेक प्रकार से नये नये रूप में विकास किया। दिङ्नाग के उत्तरकाल में न केवल बौद्ध दर्शन पर अपितु सारे वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों पर विशेषकर बाह्यार्थवादी न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा सम्प्रदाय पर दिङ्नाग की अमिट छाप लगी हुयी है, और उसके बाद उनके विकास की विचारधारा में एक नये प्रकार का परिवर्त्तन दिखाई देता है। इस प्रकार ५वीं सदी से ११वीं सदी तक ६०० वर्षों तक दोनों विचारधाराओं का संघर्ष रहा। ११वीं सदी में बौद्ध इस देश से चले गये। उसके बाद १२वीं सदी के अन्त में मिथिला के गङ्गेश ने नव्यन्याय की स्थापना की और उसके समय से न्याय-वैशेषिक का क्षेत्र गङ्गेश से प्रभावित है। इस युग के न्याय-वैशेषिक के क्षेत्र में वास्तविक दार्शनिक तत्त्वों का ह्रास होता गया, केवल नव्य न्याय सम्बन्धी जटिल प्रक्रिया के द्वारा मानसिक व्यायाम (mental gymnastic) की अवस्था बनी रही। उपर्युक्त बातों को लक्ष्य रखते हुये न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के इतिहास के तीन युग निम्न प्रकार से विभक्त किये जा सकते हैं :—

(i) *प्रारम्भिक युग :* (दिङ्नागप्राक्कालीन) जो अत्यन्त प्राचीन समय से है, जिसका समय निश्चय करना कठिन है, इसी युग में वैशेषिक और न्याय सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ और दोनों दर्शनों के सूत्र लिखे गये, न्याय पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा और वैशेषिक का स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रशस्तपाद ने भाष्य किया, यह युग पाँचवीं सदी तक चलता है, जबकि दिङ्नाग का प्रादुर्भाव हुआ।

(ii) *संघर्ष और विकास का युग :* (दिङ्नागोत्तरकालीन) यह युग दिङ्नाग के उदय से प्रारम्भ होकर ११वीं सदी तक चला जाता है। इस युग में न्याय-वैशेषिक का बौद्धों के साथ संघर्ष रहा जिसके फलस्वरूप न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों का विकास हुआ। इसी युग में, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, श्रीधर, उदयनाचार्य आदि हुये। इसी युग में पूर्वमीमांसा के क्षेत्र में कुमारिल और प्रभाकर, और दिङ्नाग के दार्शनिक

सम्प्रदाय में धर्मकीर्त्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील आदि महान् दार्शनिक हुये।

(iii) ह्रास का युग (अथवा गङ्गेश युग) : जो बौद्धों के इस देश से चले जाने के बाद १२वीं सदी से प्रारम्भ होता है और जिसका गङ्गेश नेता है।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का तीन युगों का विभागीकरण सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से होने के कारण वैज्ञानिक है। प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, वृद्धि और ह्रास की तीन अवस्थायें पाई जाती हैं; यह विभागीकरण उसी के अनुसार न्याय-वैशेषिक के इतिहास की तीन अवस्थाओं को प्रकट करता है।

८— प्रारम्भिक युग (दिङ्नागप्राक्कालीन)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि वैशेषिक-सम्प्रदाय न्याय-सम्प्रदाय की अपेक्षा प्राचीन है। इन दोनों सम्प्रदायों के प्रारम्भ होने के समय के विषय में कोई कल्पना करनी भी कठिन है, परन्तु यह हो सकता है कि बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय अनेक प्रकार के जो दार्शनिक सम्प्रदाय इस देश में विद्यमान थे, उनमें वैशेषिक के समान भी कोई सम्प्रदाय रहा हो। जो कुछ भी हो, जहाँ तक न्याय-वैशेषिक सूत्रों का प्रश्न है, यह ऊपर बताया जा चुका है कि यद्यपि निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु न्याय-सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन होने के कारण उनका समय ईसा की तृतीय शताब्दी होना सम्भव है। प्रारम्भिक युग के अन्तर्गत हम न्याय-वैशेषिक के निम्न ग्रन्थों को ले सकते हैं :—

(१) कणाद के वैशेषिकसूत्र।

(२) गोतम के न्यायसूत्र।

(३) वात्स्यायन का न्यायभाष्य।

(४) वैशेषिक का प्रशस्तपाद कृत भाष्य जिसका नाम 'पदार्थधर्मसंग्रह' है, जो चलती हुई टीका के रूप में न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में है। क्रमशः इस युग के उपर्युक्त चारों ग्रन्थकारों के विषय में विचार किया जायगा।

६— कणाद— वैशेषिक-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक

सूत्रकार ऋषियों की तिथि के विषय में हम यथाकथञ्चित् कोई कल्पना भी कर सकते हैं। पर उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में वह भी सम्भव नहीं। केवल जनश्रुति के रूप में कुछ बातें प्राचीन पुस्तकों में चली आती हैं, जिन्हें ऐतिहासिक तथ्य कहना बहुत कठिन है। वैशेषिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का नाम जिसे 'सूत्रकार' भी माना जाता है, कणाद है। यह स्पष्ट है कि सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक और सूत्रकार एक नहीं हो सकते जैसा कि ऊपर (परि० २) बताया जा चुका है। 'कणाद' के साथ साथ ही 'कणभुक्', 'कणभक्ष' आदि भी इसी नाम के रूपान्तर पाये जाते हैं। इसका अर्थ है, 'कणों को खाने वाला'। कन्दलीकार श्रीधर के अनुसार 'कण' का अर्थ है अन्न के दाने। और ऋषि का नाम 'कणाद' इसलिये पड़ा कि वह मार्ग में पड़े दानों को उठाकर इन से अपनी जीवनयात्रा चलाता था।[1] अथवा 'कण' का अर्थ 'परमाणु' हो सकता है, और 'परमाणु को खाने वाला' यह नाम वैशेषिक के प्रवर्त्तक का कदाचित् इस लिये पड़ा हो कि वह भारतीय दर्शन में परमाणुवाद का भी प्रवर्त्तक माना जाता है।[2] वैशेषिक दर्शन का नाम 'औलूक्य दर्शन' भी है।[3] बौद्धों की जनश्रुति के अनुसार, जिसका उल्लेख ऊपर (परि० ४) हो चुका है, ऋषि का नाम उलूक था, इसलिये उसके दर्शन का नाम औलूक्य दर्शन पड़ गया। परन्तु जैन लेखक राजशेखर ने जिसने श्रीधर की कन्दली टीका पर एक टीका लिखी है, एक पुरानी जनश्रुति का उल्लेख किया है कि ईश्वर कणाद ऋषि की तपस्या से इतने प्रसन्न हुये कि उन्होंने 'उलूक' के रूप में प्रकट होकर ऋषि को वैशेषिक में माने गये द्रव्य आदि छै पदार्थों का उपदेश किया। इसलिये

---

1 *न्यायकन्दली पृ० २*

2 *एच० उई, दशपदार्थशास्त्र पृ० ६*

3 *अमरकोश में 'औलूक्य' शब्द वैशेषिक का पर्यायवाची बताया गया है, तथा सर्वदर्शनसंग्रह ने वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' नाम दिया है।*

वैशेषिक दर्शन का नाम 'औलूक्य दर्शन' हो गया[1]। प्रशस्तपाद ने भी लिखा है कि कणाद ने भगवान् महेश्वर को प्रसन्न कर उनकी कृपा से शास्त्र को पाया[2]। 'औलूक्य' यह नाम वैशेषिक शास्त्र के बदले कहीं कहीं कणाद का भी माना गया है[3]। अर्थात् उसका नाम 'उलूक' नहीं प्रत्युत 'औलूक्य' था। प्रशस्तपाद ने कणाद ऋषि का नाम 'काश्यप' भी लिखा है[4], जो कि उसका गोत्र-नाम प्रतीत होता है।

इस सम्प्रदाय का नाम वैशेषिक क्यों पड़ा, इसके भी दो कारण बताये जाते हैं। चीनी परम्परा के अनुसार इसका नाम 'वैशेषिक' इसलिये पड़ा कि यह सांख्य की अपेक्षा 'विशेष' अर्थात् विशिष्ट है। परन्तु स्वाभाविक रूप से इस बात की ओर ध्यान जाता है कि 'विशेष' पदार्थ की कल्पना जो कि वैशेषिक शास्त्र की विशेषता है और जो वैशेषिक के मुख्य सिद्धान्त 'परमाणुवाद' का भी आधार है, संभवतः उसके कारण वैशेषिक नाम पड़ा हो। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि 'विशेष' पदार्थ का यद्यपि उल्लेख तो कणाद सूत्रों में है परन्तु उसका वैसा निरूपण जैसा प्रशस्तपाद ने किया है और जो उसके समय से सम्प्रदाय में बराबर प्रचलित रहा है, कणाद ने नहीं किया।

१०—गोतम— न्याय-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक

गोतम या गौतम न्यायसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक और न्यायसूत्रों के रचयिता माने जाते हैं। उनका दूसरा नाम 'अक्षचरण' या 'अक्षपाद' है जिसका अर्थ यह है कि 'जिसके पैर में आँख हो', पैरों में आँख होने की बात पर कल्पनात्मक पौराणिक कहानियाँ बन गई हैं जो सर्वथा व्यर्थ हैं। यह हो सकता है कि 'कणाद' नाम के समान यह नाम भी न्यायसिद्धान्त के सम्बन्ध में सार्थक हो। यदि 'अक्षचरण' या 'अक्षपाद' में पिछला

---

1 *प्रशस्तपादभाष्य (कन्दली सहित) प० विन्ध्येश्वरी प्रसाद की भूमिका पृ० ७*
2 *प्रशस्तपादभाष्य (कन्दली सहित) पृ० ३२६*
3 *वही ग्रन्थ, वि० प्र० द्विवेदी की भूमिका पृ० ७*
4 *प्रशस्तपादभाष्य (कन्दली सहित) पृ० २००*

अंश 'चरण' या 'पाद' सम्मानार्थक मान लिया जाय, जैसा कि 'भट्टपाद' में है, तो केवल 'अक्ष' अंश बच रहता है, और 'गोतम' में भी अतिशयार्थक 'तम' को निकाल दिया जाय तो 'गो' बच रहता है, जिसका अर्थ इन्द्रिय या आँख हो सकता है। इस प्रकार 'चक्षु' का द्योतक 'अक्ष' या 'गो' शब्द 'प्रत्यक्ष' में आये 'अक्ष' से सम्बद्ध हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष का प्रतिपादन न्याय का एक विशेष सिद्धान्त है।

डा० विद्याभूषण ने 'गोतम' और 'अक्षपाद' अलग-अलग दो व्यक्ति माने हैं। उनके अनुसार गोतम न्यायसम्प्रदाय (आन्वीक्षिकी) के प्रवर्त्तक थे और अक्षपाद न्यायसूत्रों के बनाने वाले। इस प्रकार के भेद करने का पर्याप्त प्रमाण नहीं दिया है। वायुपुराण (पूर्वखण्ड, २३) में आया है कि महेश्वर ने ब्रह्मा से कहा कि २७वीं चतुर्युगी में प्रभास क्षेत्र (द्वारिका के समीप) 'सोमशर्मा' नाम के ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न होऊँगा और मेरे चार पुत्र, अक्षपाद, कणाद, उलूक और वत्स नामक होंगे। इस वायुपुराण के लेखानुसार डा० विद्याभूषण ने अक्षपाद का स्थान 'प्रभास क्षेत्र' निश्चित किया है और गोतम को मिथिलानिवासी बताया है, क्योंकि मिथिला में अभी तक गोतमस्थान नामक गाँव पाया जाता है। वहाँ डा० विद्याभूषण स्वयं गये और एक टीला देखा जहाँ गोतम का आश्रम था[1]। यह दोनों ही बातें ऐतिहासिक आलोचनात्मक दृष्टि से कितनी हास्यास्पद सी प्रतीत होती हैं! यह दुःख की बात है कि डा० विद्याभूषण जैसे विद्वान् ने जिनके 'हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक' ग्रन्थ के लिये संस्कृत जगत् सदैव उनका ऋणी रहेगा, ऐसी युक्तिहीन बात लिखी हो। पता नहीं कि पाश्चात्य विद्वानों की वैज्ञानिक-अध्ययन प्रणाली से इतने अधिक सम्पर्क के बाद भी हमारे भारतीय विद्वानों ने ऐतिहासिक आलोचनात्मक दृष्टि को क्यों नहीं अपनाया है।

जहाँ तक गोतम की तिथि का प्रश्न है न्याय-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोतम की तिथि के विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते, परन्तु

---

1 *विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १७.*

न्यायसूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद का खण्डन होने से, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनकी तिथि के विषय में अनुमान हो सकता है। नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में है। उसके बाद ही न्यायसूत्रों का समय हो सकता है। उधर दिङ्नाग ने जिसका समय पाँचवी शताब्दी है, वात्स्यायन का खण्डन किया है। साथ ही वात्स्यायन ने चतुर्थ शताब्दी में उत्पन्न हुये वसुबन्धु के विषय में कुछ नहीं लिखा, इसलिये वात्स्यायन का समय चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ से बाद का नहीं हो सकता, और ऐसी दशा में न्यायसूत्रों का समय तृतीय शताब्दी के अन्त से बाद का नहीं हो सकता। साधारणतया कतिपय न्यायसूत्रों में (अ० ४ आ० २ सूत्र २५ और आगे) विज्ञानवाद का खण्डन मानते हुये टीकाकारों ने व्याख्या की है। यहाँ तक कि वाचस्पति मिश्र ने भी उन सूत्रों में विज्ञानवाद का खण्डन माना है। यदि सचमुच विज्ञानवाद का खण्डन उन सूत्रों में हो तो, क्योंकि विज्ञानवाद का प्रारम्भ-काल चौथी सदी में है, इसलिये सूत्रों का समय ५वीं सदी या उसके बाद का हो जायगा, और यह सम्भव नहीं, क्योंकि दिङ्नाग ने (जो कि ५वीं सदी का है) वात्स्यायन का खण्डन किया है। यहाँ तक कि दिङ्नाग का समय यदि कुछ बाद का भी रख लिया जाय तो भी न्यायसूत्रों का समय विज्ञानवाद से बाद का होना सम्भव नहीं, इसी विरोध का समाधान करते हुये जैकोबी ने भली भाँति दिखा दिया है कि जिन सूत्रों में टीकाकारों ने विज्ञानवाद का खण्डन समझकर व्याख्या की है, वहाँ वस्तुतः शून्यवाद का ही खंडन है[1]।

११—वात्स्यायन— न्यायसूत्र-भाष्यकार

न्याय-वैशेषिक के इतिहास में तीसरा महान् नाम वात्स्यायन का है। सूत्र भाष्य के बिना अपूर्ण रहते हैं, इसलिये प्रत्येक दर्शन में भाष्यकार का लगभग वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान होता है, जैसा कि सूत्रकार का। दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय पर आक्रमण करने के लिये

---

1. Jacobi : Dates of the Philosophical Sutras of the Brahmanas; *जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी १९११.*

वात्स्यायन को अपना लक्ष्य बनाया, इससे यह स्पष्ट है कि दिङ्नाग ने वात्स्यायन को न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में माना। वात्स्यायन की तिथि ३०० ईसवी के लगभग होनी चाहिये, यह ऊपर ही बताया जा चुका है। संस्कृत-वाङ्मय के अन्य प्राचीन महान् ग्रन्थकारों के समान ही हमें वात्स्यायन के व्यक्तित्व के विषय में कुछ भी परिचय नहीं है। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि के एक श्लोक के अनुसार यह कहा जाता है कि वात्स्यायन और कौटिल्य एक ही थे अथवा वात्स्यायन द्राविड थे[1]; परन्तु पिछले युग में बने केवल एक श्लोक के आधार पर इन दोनों बातों को मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वात्स्यायन कामसूत्र के भी रचयिता हैं, परन्तु केवल नाम की समता से यह मान लेना कि कामसूत्रकार और न्यायभाष्यकार वात्स्यायन एक ही हैं, ठीक प्रतीत नहीं होता। उनके लेखों में ऐसी कोई भी बात नहीं पाई जाती, जिससे उन्हें एक माना जा सके। वात्स्यायन का 'पक्षिलस्वामिन्' भी नाम था, यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका के प्रारम्भ में वात्स्यायन के लिये 'पक्षिलस्वामिन्' नाम का प्रयोग किया है।

१२— प्रशस्तपाद— वैशेषिक-भाष्यकार

न्याय-सम्प्रदाय में जैसा गौरवपूर्ण स्थान वात्स्यायन का है, वैशेषिक-सम्प्रदाय में वैसा ही, कदाचित् उससे भी अधिक, महत्त्वपूर्ण स्थान प्रशस्तपाद का है। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक-दर्शन के एक-एक सूत्र को लेकर उसके पदों की व्याख्या नहीं की है, प्रत्युत वैशेषिक पदार्थों का एक स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में निरूपण किया है। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक-सम्प्रदाय को कणाद की अपेक्षा एक ऐसा रूप दिया है, जो पिछले युग के न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के प्रक्रिया ग्रन्थों के लिये आदर्श बना रहा है। कणाद ने सामान्य,

---

1 *वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।*
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥
अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यखण्ड ५१७–५१८

विशेष, और समवाय को एक 'मानस' (बुद्धयपेक्ष) पदार्थ माना[1]। परन्तु प्रशस्तपाद ने उन्हें बाह्यार्थ के रूप में 'सत्' स्थापित किया। कणाद ने केवल १७ गुण गिनाये थे, परन्तु प्रशस्तपाद ने उनमें सात नये गुण बढ़ाकर उनकी संख्या २४ कर दी। अनुमान का भी प्रशस्तपाद ने नये रूप में वर्णन किया। सजीव पदार्थों के क्षणिक होने का तथा संख्या आदि अनेक पदार्थों के क्षणिक होने का मत प्रशस्तपाद में ही पाया जाता है और उसमें बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। इसी प्रकार परमाणुवाद की भी रूपरेखा जैसी इस समय न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में मानी जाती है, तथा परमाणु, द्वयणुक और त्र्यणुक का परस्पर तारतम्य, इन सब का प्रथम प्रवर्त्तक प्रशस्तपाद ही है। कणाद में तो द्वयणुक का नाम भी विद्यमान नहीं। द्वयणुक में भी अणुपरिमाण होता है और द्वयणुक का तथा त्र्यणुक का परिमाण द्वित्व और त्रित्व संख्या से आता है, यह सब सिद्धान्त पहिले पहल प्रशस्तपाद में ही पाये जाते हैं। यहाँ तक कि विशेष का स्वरूप कि वह 'नित्य पदार्थों को परस्पर व्यावृत्त करता है' पहिले पहल प्रशस्तपाद ने ही स्थापित किया। इस समय वैशेषिक का जो स्वरूप है, वह कणाद से बहुत भिन्न है और प्रशस्तपाद का ही बनाया हुआ है। और यह कहा जा सकता है कि प्रशस्तपाद के भाष्य के कारण स्वतः कणाद के सूत्र गौण हो गये। यहाँ तक कि वैशेषिक के सिद्धान्तों के विषय में वैदिक दर्शनों के और बौद्ध दर्शनों के सभी लेखक और यहाँ तक कि चीनी लेखक भी प्रशस्तपाद को ही उद्धृत करते हैं, कणाद को नहीं। जितनी पुरानी टीकायें, जैसे कन्दली, किरणावली, व्योमवती आदि मिलती हैं वे सब प्रशस्तपाद के भाष्य की हैं। वैशेषिकसूत्रों पर जो सब से पुरानी टीका इस समय विद्यमान है, वह १५वीं सदी के शंकर मिश्र की है, उससे पहिली कोई नहीं मिलती।

प्रशस्तपाद के समय के विषय में बोडास का मत है कि वह वात्स्यायन से पहिले का है[2]। परन्तु सुआली और फैडेगन ने इसका

---

1 *सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्षम्।* वैशेषिकसूत्र I. ii. 3.

2 बोडास : *हिस्टॉरिकल सर्वे आफ इण्डियन लॉजिक* पृ० ४०।

खण्डन किया है[1] और वे वात्स्यायन को प्रशस्तपाद से पहिले का मानते हैं। वात्स्यायन और प्रशस्तपाद के अनुमान के निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वात्स्यायन प्रशस्तपाद से पहिले का है[2]। परन्तु यह स्पष्ट है कि उद्योतकर जो छठी सदी के अन्त में हुआ प्रशस्तपाद के बहुत बाद का है, क्योंकि उद्योतकर ने अनेक जगह प्रशस्तपाद का उल्लेख किया है[3]। बौद्ध लेखक परमार्थ (४९९–५६९) और धर्मपाल (५३९–५७०) ने वैशेषिक का खण्डन करते हुये प्रशस्तपाद को उद्धृत किया है। परन्तु सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि प्रशस्तपाद और दिङ्नाग में कौन पहिले का है। श्चेरबात्स्की ने अपने एक पहिले लेख में दिखलाया था कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग से बहुत कुछ लिया है परन्तु दिङ्नाग के ऋण को स्वीकार नहीं किया[4]। कीथ ने भी श्चेरबात्स्की की बात को दुहराते हुये यही माना कि प्रशस्तपाद बाद का है[5]। इसके विरुद्ध जैकोबी ने यह दिखाया कि बौद्ध-न्याय ने बहुत सी बातें वैशेषिक से लीं। बाद में श्चेरबात्स्की ने भी अपना विचार बदल दिया और यह स्वीकार किया कि वसुबन्धु के समय के पहिले ही न्याय और वैशेषिक के ग्रन्थ विद्यमान थे। उसने यह भी बतलाया कि शब्द के तीन क्षण तक रहने का सिद्धान्त जो कि कणाद के सूत्रों में नहीं पाया जाता और केवल प्रशस्तपाद में ही पाया जाता है, वह वसुबन्धु ने प्रशस्तपाद से उद्धृत किया है। इस प्रकार प्रशस्तपाद के दिङ्नाग के उत्तरवर्त्ती होने के बदले, ठीक उससे विपरीत यह बात आ जाती है कि

1 *फैडेगन : वैशेषिक सिस्टम पृ० ६०५*

2 *रैण्डल : इण्डियन लॉजिक इन अर्ली स्कूल्स पृ० २७*

3 *जैकोबी : इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स जि० १, पृ० २० तथा एच. उई दशपदार्थशास्त्र पृ० १७*

4 Le Museon vol. V 1904 quoted by Faddegon p. 15.

5 *कीथ : इण्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज्म पृ० २७*

प्रशस्तपाद वसुबन्धु से भी (जो कि दिङ्नाग का गुरु था) पहिले का, या उसका समकालीन था। वसुबन्धु का समय चौथी सदी का अन्त समझा जाता है इसलिये प्रशस्तपाद का समय भी चौथी सदी में मानना पड़ेगा, और यह तिथि न्याय-वैशेषिक दर्शन की इस जनश्रुति के अनुकूल है कि प्रशस्तपाद एक प्राचीन ऋषि थे, और वाचस्पति मिश्र ने उसके एक वाक्य को "पारमर्ष वचन" करके उद्धृत किया है[1]।

प्रशस्तपाद दिङ्नाग और सम्भवतः वसुबन्धु से भी पहिले का भले ही हो, परन्तु प्रशस्तपाद के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने बौद्धों को दृष्टि में रख कर बाह्यार्थवाद (Realism) की दृढ़ स्थापना करने के लिये ही वैशेषिक शास्त्र को एक नये ढाँचे में ढाला, उदाहरणार्थ (i) सामान्य, विशेष समवाय को बाह्य जगत् में विद्यमान सद्वस्तु मानना, (ii) न्याय-वैशेषिक का असत्कार्यवाद जिसके अनुसार पहिले सर्वथा असत् नई वस्तु अस्तित्व में आजाती है, (iii) शरीरों में प्रत्येक क्षण परिवर्तन, (iv) संख्या, संयोग विभाग आदि का बाह्य अस्तित्व मानना, (v) संख्या आदि के सम्बन्ध में क्षणों की व्यवस्था ; यह कतिपय ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमें कि बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दीखता है और बौद्ध सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर बाह्यार्थवाद को दृढ़ करने के लिये ही यह सिद्धान्त स्थापित किये गये, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो, इस समय न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का जो भी दार्शनिक स्वरूप है, उसका मुख्य निर्माता प्रशस्तपाद को ही समझना चाहिये।

१३— *वात्स्यायन से पूर्ववर्त्ती न्याय भाष्यकार*

विण्डिश (Windisch) ने यह मत प्रकट किया था कि वात्स्यायन से पूर्व भी न्यायसूत्रों पर वार्त्तिक या भाष्य के रूप में कोई ग्रन्थ रचा गया था, जिसके सूत्र के समान उद्धरणों का प्रतीक देखकर वात्स्यायन उनकी व्याख्या करता है[2], उदाहरणार्थ भाष्य के प्रारम्भ में ही "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ

1 *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (कलकत्ता संस्करण पृ० ४५८)*

2 *रैण्डल : इण्डियन लॉजिक इन अर्ली स्कूल्स, पृ० १६*

प्रवृत्तिसामर्थ्योदर्थवत्प्रमाणम्" इस वाक्य को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है। विण्डिश का यह मत केवल उपर्युक्त युक्ति के आधार पर प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि प्राचीन लेखकों की प्रायः यह शैली पाई जाती है कि वे संक्षेप में अर्थात् सूत्र रूप में एक बात को कहकर फिर उसकी व्याख्या करते हैं। यह शैली पतञ्जलि के महाभाष्य और उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक में स्पष्ट रूप से पाई जाती है। इसलिये वात्स्यायन से पहिले कोई न्यायसूत्रों का भाष्यकार हुआ इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

१४— वैशेषिक पर रावणभाष्य

चीनी जनश्रुति के अनुसार कणाद या उलूक का शिष्य पञ्चशिख वैशेषिक सम्प्रदाय में हुआ। परन्तु भारतीय जनश्रुति जो सांख्य सम्प्रदाय में पाई जाती है यह है कि पञ्चशिख कपिल के शिष्य आसुरि का शिष्य था। कुछ भी हो, पञ्चशिख के वैशेषिक सम्प्रदाय में होने का या किसी ग्रन्थ के लिखने का कोई प्रमाण नहीं है।

परन्तु वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद से भी पहिले रावणभाष्य लिखा गया यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। रावणभाष्य के विषय में दो स्पष्ट उल्लेख विद्यमान हैं, (i) एक उदयनाचार्य की किरणावली तथा उसकी पद्मनाभ मिश्र की टीका से सम्बन्ध रखता है। प्रशस्तपाद के मङ्गल श्लोक के 'प्रवक्ष्यते' इस पद की व्याख्या में उदयनाचार्य ने कहा है कि 'सूत्र, भाष्य तथा प्रकरण ग्रन्थों के होते हुये भी प्रशस्तपाद ने विशेषता लाने के लिये (प्र = प्रकृष्टता, विशेषता) इस ग्रन्थ को बनाया'[1]। किरणावली के इस अंश की व्याख्या में पद्मनाभ मिश्र ने कहा है कि उपर्युक्त वाक्य में 'भाष्य' से तात्पर्य 'रावणभाष्य' से है[2], (ii) इसके सिवाय शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है कि वैशेषिक के अनुसार दो

---

1 *किरणावली बनारस संस्करण, पृ० ५.*

2 *किरणावलीभास्कर, प्रथम श्लोक की व्याख्या।*

द्वयणुकों से एक चतुरणुक उत्पन्न होता है[1]। परन्तु प्रशस्तपाद के अनुसार तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक बनता है, इसलिये शारीरक भाष्य की टीका रत्नप्रभा में लिखा है कि 'प्रकटार्थ' नामक टीका के अनुसार शङ्कर का उद्धृत किया हुआ मत रावणभाष्य से लिया गया है। सौभाग्य की बात है कि अभी हाल में मद्रास यूनिवर्सिटी से 'प्रकटार्थविवरण' नामक टीका जो कि 'प्रकटार्थ टीका' का ही दूसरा नाम है प्रकाशित हो चुकी है, और उसमें वस्तुतः यह दिया हुआ है कि रावणभाष्य के अनुसार दो द्वयणुकों से एक चतुरणुक उत्पन्न होता है। यह स्पष्ट है कि यह मत प्रशस्तपाद की अपेक्षा प्राचीनतर है क्योंकि प्रशस्तपाद के बाद कभी किसी ने इस सिद्धान्त का विरोध नहीं किया कि तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक बनता है। इसलिये रावणभाष्य प्रशस्तपाद से निस्संदेह प्राचीन होगा[2]। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि रावणभाष्य सूत्रों की पद-टीका के रूप में भाष्य था या प्रशस्तपाद की रचना के समान स्वतन्त्र निबन्ध। दुर्भाग्य की बात है कि इस समय रावणभाष्य का कुछ भी पता नहीं, और यह भी स्पष्ट है कि शङ्कर मिश्र के समय में भी इसका कुछ पता नहीं था क्योंकि वह कहता है कि 'मैं ने केवल सूत्रों का साहारा लेकर[3]' उपस्कार नामक टीका लिखी है।

१५— भारद्वाज वृत्ति

डा० राधाकृष्णन[4], प्रो० दासगुप्ता[5] आदि ने वैशेषिक की एक

---

1 *शारीरक भाष्य* 2. 2. 11.

2 *बोडास ने इस विषय को सर्वथा ग़लत समझकर यह लिखा है कि शङ्कराचार्य का दिया हुआ मत प्रशस्तपाद का है जो कि रावणभाष्य के मत के विरुद्ध है।*

5 *'सूत्रमात्रावलम्बेन' उपस्कार प्रारम्भिक तृतीय श्लोक।*

4 *राधाकृष्णन : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, पृ० १८०.*

5 *दासगुप्ता : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, पृ० ३०६.*

भारद्वाज वृत्ति का उल्लेख किया है जो कि सम्भवतः उन्होंने विन्ध्येश्वरी-प्रसाद द्विवेदी के आधार पर किया प्रतीत होता है[1]। परन्तु इस वृत्ति के होने का कोई भी प्रमाण नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि भ्रमवश ही इसकी कल्पना कर ली गई है। गंगाधर कविरत्न कृत एक 'भारद्वाजवृत्ति-भाष्य' नामक ग्रन्थ १७७८-७९ में बहरामपुर (मुर्शिदाबाद) से प्रकाशित हुआ था जो कि कदाचित् भारतीय दर्शन का सबसे पहिला मुद्रित ग्रन्थ कहा जा सकता है। कदाचित् इस ग्रन्थ के नाम से ही यह धोका हुआ है कि यह भारद्वाजवृत्ति पर लिखा हुआ भाष्य है। परन्तु उसे देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वह किसी वृत्ति पर लिखा हुआ भाष्य नहीं है प्रत्युत सर्वथा एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। प० विन्ध्येश्वरी प्रसाद ने अपनी भूमिका में यह भी लिखा है कि उन्होंने बनारस में एक संन्यासी के पास मैथिली अक्षरों में लिखी हुई भारद्वाजवृत्ति की हस्तलिखित कापी देखी जो कि बहुत ही फटी हुई अवस्था में थी, परन्तु उसके बाद वह सन्यासी नहीं मिला। अतएव उस हस्तलिखित कापी के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इस सारी घटना में कुछ कल्पना का अंश हो यह भी संभव है। जो कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि ऐसे कच्चे आधार पर किसी ग्रन्थ की कल्पना कर लेना सर्वथा व्यर्थ है।

१९— संघर्ष और विकास का युग (दिङ्नागोत्तरकालीन)

न्याय-वैशेषिक के तीन ऐतिहासिक युगों के विभागीकरण के विषय में यह बतलाया जा चुका है कि पाँचवी सदी में भारतीय क्षितिज में दिङ्गनाग का उदय एक ऐसी घटना थी जिसकी अमिट छाप अगले छः सौ वर्षों तक न केवल बौद्ध दर्शन पर अपितु न्याय-वैशेषिक और पूर्व-मीमांसा के बाह्यार्थवादी दार्शनिक सम्प्रदायों पर लगातार बनी रही। पाँचवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक का यह युग भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग कहा जा सकता है जिसमें भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण

1 *विन्ध्येश्वरीप्रसाद : कन्दली भूमिका, पृ० १२.*

सिद्धान्तों का विकास हुआ। इस युग में एक ओर दिङ्नाग सम्प्रदाय, और दूसरी ओर बाह्यार्थवादी वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों (न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा) में लगातार संघर्ष चला जिसके फलस्वरूप उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ और यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय की वर्तमान रूपरेखा उसी संघर्ष का फल है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले कतिपय महान् दार्शनिक *दिङ्नाग* के अतिरिक्त *उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मोत्तर, वाचस्पतिमिश्र, जयन्त, उदयन, श्रीधर, व्योमशिव, शान्तरक्षित, भासर्वज्ञ* आदि हैं। इनमें से दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कुमारिल और प्रभाकर के विषय में परिचयात्मक टिप्पणियाँ प्रथम भाग में दी जा चुकी हैं। यहां पर विशेषकर न्याय-वैशेषिक क्षेत्र के उपर्युक्त महान् लेखकों के विषय में संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

१७— *उद्योतकर भारद्वाज— न्यायवार्त्तिककार*

दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय को जो चुनौती दी थी उसका उत्तर द्योतकर ने न्यायवात्स्यायनभाष्य पर 'न्यायवार्त्तिक' नामक टीका लिखकर दिया। उसने अपने ग्रन्थ की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि कुतार्किकों द्वारा फैलाये अज्ञान की निवृत्ति हेतु मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ। वाचस्पतिमिश्र ने इसका स्पष्टीकरण करते हुये कहा है कि कुतार्किकों से तात्पर्य दिङ्नाग आदि बौद्धों से है[1]। उद्योतकर का गोत्र नाम भरद्वाज है। एक जगह उसका नाम पाशुपताचार्य भी आया है, जिससे प्रतीत होता है कि वह पाशुपत सम्प्रदाय का था। उसकी तिथि के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण आधार यह है कि सुबन्धु की वासवदत्ता में उद्योतकर का उल्लेख विद्यमान है[2]। सुबन्धु बाण से पहिले हुआ, बाण ने

---

1 *कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः, न्यायवार्त्तिक प्रारम्भिक प्रथम श्लोक 'कुतार्किकैर्दिङ्नागप्रभृतिभिः' तात्पर्यटीका* (कलकत्ता), पृ० २.

2 *न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्। वासवदत्ता* (हाल संस्करण) पृ० २३५.

सुबन्धु का उल्लेख किया है और बाण का समय सातवीं शताब्दी का प्रथम भाग है। इसलिये उद्योतकर का समय छठी शताब्दी के अन्त से बाद का नहीं हो सकता। यह तिथि सातवीं सदी में हुए धर्मकीर्ति की तिथि से भी संगत हो जाती है। जैनश्लोकवार्तिक ने यह लिखा है कि धर्मकीर्ति ने उद्योतकर की आलोचना की है। सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने यह दिखाने की चेष्टा की कि उद्योतकर ने भी धर्मकीर्त्ति को उद्धृत किया है और उनके विचार में वे दोनों कदाचित् समकालीन थे। परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि उद्योतकर ने जहाँ दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण पर आक्षेप किया है, उसी स्थल पर वह धर्मकीर्त्ति के दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण में किये हुए संशोधन की ओर अवश्य संकेत करता यदि उद्योतकर को धर्मकीर्त्ति का पता होता। वाचस्पतिमिश्र ने उद्योतकर को बहुत प्राचीन माना है[1]। इससे भी उद्योतकर की तिथि छठी शताब्दी के अन्त में ही संगत प्रतीत होती है। उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक में दार्शनिक गम्भीरता के बदले विवाद-प्रियता का ही अधिक प्रमाण मिलता है। वह अपने शत्रु के विरोध में युक्त और अयुक्त सब प्रकार की युक्तियों के प्रयोग में कभी नहीं हिचकता।

१८— *वाचस्पतिमिश्र*

भारतीय दर्शन के सभी क्षेत्रों में जिस आचार्य की सबसे बड़ी और सर्वतोमुखी देन है, वह मिथिला के *वाचस्पतिमिश्र* हैं। कोई ऐसा वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है कि जिसके विषय में वाचस्पतिमिश्र के मौलिक ग्रन्थ नहीं, और वे सभी ग्रन्थ अपने अपने क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वाचस्पति की तिथि नवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में निश्चित सी ही है क्योंकि उन्होंने न्यायसूचीनिबन्ध नामक ग्रन्थ के अन्त में समाप्ति की तिथि दी है जो कि ८६८ संवत् है। इस संवत् को विक्रम संवत् मानना आवश्यक है, और उसके अनुसार ईसाई संवत् वर्ष ८४१ ई० होगा। इस

1 '*अतिजरतीनामुद्योतकरगवीनाम्*'

न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका प्रारम्भिक श्लोक नं० ४.

संवत् को शक सम्वत् नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके अनुसार ईसाई संवत् ६७६ होगा और इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र लगभग उदयनाचार्य (जिनकी तिथि ६८४ ई० सन् है) के समकालीन हो जायेंगे। और यह सम्भव नहीं क्योंकि उदयनाचार्य ने वाचस्पतिमिश्र की न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका पर अपनी टीका परिशुद्धि नामक लिखी है जिससे प्रतीत होता है कि उदयनाचार्य की अपेक्षा वाचस्पतिमिश्र पर्याप्त रूप से प्राचीन थे।

वाचस्पति मिश्र ने उद्योतकर के न्यायवार्तिक पर '*न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका*' नामक ग्रन्थ लिखा है जो कि न्यायशास्त्र का कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अनेक स्थलों पर बौद्ध दर्शन-सम्प्रदायों की, विशेषकर दिङ्नाग सम्प्रदाय की बहुत सूक्ष्म और गम्भीर आलोचना की गई है और संभवतः सारे वैदिक दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में वाचस्पति से बढ़कर बौद्ध दर्शन सिद्धान्तों को समझने का कोई दूसरा आधार नहीं है। वाचस्पति ने भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के क्षेत्र में जो मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं :—

न्याय	(i)	न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।
	(ii)	न्यायसूचीनिबन्ध।
सांख्य	(iii)	सांख्यतत्त्वकौमुदी।
योग	(iv)	तत्त्ववैशारदी (योगव्यासभाष्य पर टीका)।
मीमांसा	(v)	न्यायकणिका।
	(vi)	तत्त्वबिन्दु।
वेदान्त	(vii)	भामती।
	(viii)	तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा।

इनमें से पिछला ग्रन्थ अर्थात् तत्त्वसमीक्षा अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। उनके अन्य भी अनेक अप्राप्त ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख पाया जाता है, जिनमें युक्तिदीपिका नामक ग्रन्थ सांख्य सम्प्रदाय का, और ब्रह्मसिद्धि, वेदान्ततत्त्वकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ वेदान्त के थे। भामती की समाप्ति पर स्वयं वाचस्पतिमिश्र ने अपने अनेक शास्त्रों से सम्बन्ध रखने

वाले ग्रन्थों की ओर संकेत किया है[1]।

त्रिलोचन वाचस्पति के गुरु थे जिनसे उन्होंने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त को सीखा ; जैसा कि उन्होंने न्यायवर्त्तिकतात्पर्यटीका में स्वयं ही लिखा है। यह भी कहा जाता है कि तात्पर्यटीका के लेखक होने के कारण वाचस्पतिमिश्र *'तात्पर्याचार्य'* नाम से प्रसिद्ध थे। परन्तु पण्डित गोपीनाथ कविराज ने न्यायलीलावती का उल्लेख करते हुये यह बतलाया है कि *'तात्पर्याचार्य'* भासर्वज्ञ के अनुयायी थे और न्याय-वैशेपिक शास्त्र की प्रसिद्ध उक्ति कि "संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्" तात्पर्याचार्य की ही है, इसलिये यह प्रसिद्ध तात्पर्याचार्य वाचस्पतिमिश्र नहीं हो सकते[2]। जिस समय कविराज जी ने लिखा उस समय तक यह उक्ति उपस्कार, न्यायसिद्धान्तमाला, खण्डनोद्धार आदि पिछले समय के ग्रन्थों में ही पाई गई थी परन्तु वर्तमान लेखक को यह उक्ति साक्षात् वाचस्पति की तात्पर्यटीका में ही मिल गई[3]। जिससे यह स्पष्ट है कि इस उक्ति के निर्माता वाचस्पतिमिश्र ही हैं और इसलिये उन्हीं का नाम 'तात्पर्याचार्य' है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त को भी वाचस्पति का गुरु कहा जाता है, उस पर विचार आगे किया जायगा।

१६— जयन्त— न्यायमञ्जरीकार

भारतीय दर्शन और विशेपकर न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में जयन्त का एक विशेष स्थान है। दार्शनिक भावों की सूक्ष्मता और गम्भीरता तथा भाषा की विशद स्पष्टता के साथ साथ विनोदपूर्ण चुटकियों का जैसा पुट

---

1. *यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः ।*
यन्न्यायसांख्ययोगानां, वेदान्तानां निबन्धनैः ।
समचैषं महत्पुण्यं तत्फलं पुष्कलं मया ।
समर्पितमथैतेन प्रीयतां परमेश्वरः ॥
भामती समाप्ति पर ३, ४ श्लोक
2. *सरस्वतीभवन स्टडीज़* Vol III.
3. *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (कलकत्ता) पृ० ५०६.*

जयन्त की 'न्यायमञ्जरी' में पाया जाता है वैसा भारतीय दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में किसी भी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। न्यायमञ्जरी खास खास न्यायसूत्रों पर आलोचनात्मक टीका के रूप में है। जयन्त की तिथि के विषय में उसके पुत्र अभिनन्द के ग्रन्थ कादम्बरीकथासार से कुछ सूचना प्राप्त होती है। उसके अनुसार शक्तिस्वामी जो कि जयन्त के प्रपितामह थे काश्मीर के राजा मुक्तापीड (जिसका दूसरा नाम ललितादित्य था) के मन्त्री थे। ललितादित्य का राज्य ७५३ ई० में समाप्त हुआ। यदि लगभग ६० वर्ष का समय दो पीढ़ियों के लिये दे दिया जाय तो जयन्त का समय ६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में होगा। और इस प्रकार वे वाचस्पति मिश्र से कुछ पहिले के होंगे। वाचस्पति मिश्र ने अपनी पुस्तक न्यायकणिका के प्रारम्भ में 'न्यायमञ्जरी के कर्त्ता' को अपने गुरु के रूप में प्रणाम किया है[1]। इस पर कल्पना की गई है कि कदाचित् वाचस्पति के गुरु त्रिलोचन और जयन्त एक ही व्यक्ति हों, परन्तु यह कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती। कारण यह है कि न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने 'अव्यपदेश्य' का अर्थ 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' किया है और यह लिखा है कि यह उन्होंने त्रिलोचन के बताये सिद्धान्त के अनुसार किया है[2]। जयन्त ने 'अव्यपदेश्य' शब्द की व्याख्या करते हुए अनेक मत दिये हैं परन्तु उपर्युक्त मत नहीं दिया, जिससे यह प्रतीत होता है कि त्रिलोचन और जयन्त एक नहीं थे। परन्तु यह हो सकता है कि जयन्त भी त्रिलोचन के अतिरिक्त वाचस्पति के दूसरे गुरु हों। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध हुई जयन्त की तिथि का वाचस्पति की तिथि से भी समन्वय हो जाता है। क्योंकि जयन्त नवीं सदी के प्रारम्भ में और वाचस्पति उससे कुछ बाद नवीं सदी के प्रथम अर्धभाग में उत्पन्न हुए। जयन्त को गङ्गेश आदि ने 'जरन्नैयायिक' कहा है। उससे

---

1 *अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिरां।*
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे गुरवे नमः॥
न्यायकणिका प्रारम्भिक तृतीय श्लोक।

2 *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (कलकत्ता), पृ० ११४.*

भी जयन्त की तिथि प्राचीन ही प्रतीत होती है। अभी हाल में सरस्वती भवन सीरीज़ से भासर्वज्ञ के न्यायसार नामक ग्रन्थ पर 'न्यायकलिका' नाम की टीका प्रकाशित हुई है जो जयन्त की रचना समझी जाती है, यद्यपि निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। जयन्त के ग्रन्थ न्यायमञ्जरी के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जयन्त ने यह ग्रन्थ जेल में लिखा ऐसा 'न्यायमञ्जरी' के एक श्लोक से प्रतीत होता है[1]।

२०—*भासर्वज्ञ—न्यायसार का कर्त्ता*

नवीं या दसवीं सदी में न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में दो ऐसे आचार्य हुये जिन्हें प्रकरणग्रन्थों की शैली का प्रवर्त्तक समझा जा सकता है। इनमें से '*भासर्वज्ञ*' न्याय-प्रकरणों का प्रवर्त्तक है और 'शिवादित्य' वैशेषिक प्रकरणों का। यदि न्यायमञ्जरी के कर्त्ता जयन्त को ही न्यायसार की टीका 'न्यायकलिका' का रचयिता माना जाय तो भासर्वज्ञ का समय नवीं सदी से भी पहिले कदाचित् आठवीं सदी के अन्त में मानना पड़ेगा। भासर्वज्ञ की एक और भी विशेषता यह है कि उसने न्यायसम्प्रदाय से दार्शनिक भाग (metaphysics) को निकाल कर केवल विशुद्ध प्रमाणवाद (epistemology) को ही रक्खा, अर्थात् केवल चार प्रमाणों का ही निरूपण किया है, इसी शैली को बाद में गङ्गेश ने भी अपनाया। यह प्रतीत होता है कि न्यायसार बहुत ही सम्मानित ग्रन्थ था जिस पर हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' के टीकाकार गुणरत्न के अनुसार १८ टीकायें लिखी गई थीं। इनमें से भूषण टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी गई थी, और कदाचित् उसका रचयिता स्वयं जयन्त ही था। बौद्ध लेखक रत्नकीर्ति ने भी, जिसका समय १००० ई० के लगभग है, 'न्यायभूषण' (भूषण) का उल्लेख किया है।

२१—*शिवादित्य*

जैसा कि ऊपर कहा गया है शिवादित्य की पुस्तक "सप्तपदार्थी"

---

1 *राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दके बन्धने विनिहितोऽहम्।*
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः॥
न्यायमञ्जरी (चौखम्बा) पृ० २६३

वैशेषिक प्रकरणों में प्रथम स्थान रखती है। पहिले पहल इसी पुस्तक में 'अभाव' को सातवाँ पदार्थ नियमपूर्वक माना गया है; यद्यपि अभाव का बाह्य अस्तित्व बहुत पहिले ही माना जाना प्रारम्भ हो गया था। गङ्गेश ने शिवादित्य के नाम का उल्लेख किया है[1]। खण्डनखण्डखाद्य के कर्त्ता श्रीहर्ष ने जो कि १२वीं सदी में गङ्गेश से कुछ पहिले हुये, शिवादित्य की बनाई 'लक्षणमाला' का उल्लेख किया है। इससे इसका समय सम्भवतः १०वीं शताब्दी में सिद्ध होता है। कुछ लेखकों ने 'शिवादित्य' और प्रशस्तपाद के टीकाकार 'व्योमशिव' को एक ही माना है, परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता।

२२— व्योमशिव— प्रशस्तपाद का टीकाकार

प्रशस्तपाद पर दसवीं शताब्दी के लगभग तीन महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी गयीं जिनमें से व्योमशिव की व्योमवती टीका जो कि अभी हाल में ही प्रकाशित हुई है, सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। जैन राजशेखर ने, जो कि कन्दली का टीकाकार है (जिसका ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ) कन्दली पर चार टीकाओं का उल्लेख किया है जो क्रमशः इस प्रकार हैं:— (i) व्योमवती, (ii) कन्दली, (iii) किरणावली, (iv) लीलावती। ऐसा प्रतीत होता है ये टीकायें कालक्रम के अनुसार दी गई हैं और व्योमवती सबसे प्राचीन है। व्योमवती में बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन भी बहुतायत से है और इससे भी उसका समय प्राचीन सिद्ध होता है। उदयन ने किरणावली में काल के लक्षण में "आचार्य" का उल्लेख किया है जो कि वर्धमान के किरणावलीप्रकाश के अनुसार व्योमशिवाचार्य के लिये है[2]। इससे अधिक व्योमशिव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। एक विशेष बात यह है कि उदयन और श्रीधर दोनों ने वैशेषिक

---

1 *तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्ष खण्ड, पृ० ८३०.*

2 *कविराज : सरस्वती भवन स्टडीज़ जिल्द* III, पृ० *१०८, किरणावली पृ० ११४.*

की प्राचीन सिद्धान्त शैली के अनुसार शब्द प्रमाण नहीं माना है। परन्तु व्योमशिव ने शब्द प्रमाण को स्थापित किया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि वह शिवादित्य से भिन्न है जो कि शब्द प्रमाण को नहीं मानता।

२३—*श्रीधर— न्यायकन्दलीकार*

वैशेषिक सम्प्रदाय के क्षेत्र में कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीधर की 'न्यायकन्दली' को कहा जा सकता है। ग्रन्थ के अन्त में उसने समाप्ति का जो संवत् दिया है वह ९९१ ई० ठहरता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि वह दक्षिण बंगाल के 'भूरिसृष्टि' नामक ग्राम का रहने वाला था। कन्दली में उसने अपने बनाये अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है जो कि इस समय नहीं मिलते। वे निम्नलिखित हैं :—

(i) अद्वयसिद्धि (कन्दली पृ० ५), (ii) तत्त्वप्रबोध (कन्दली पृ० ८२ और १४६), (iii) तत्त्वसंवादिनी (कन्दली पृ० ८२) तथा (iv) संग्रह-टीका (कन्दली पृ० १५९)।

२४— *उदयनाचार्य*

न्याय-वैशेषिक क्षेत्र में जिसने सबसे अधिक ग्रन्थ लिखे हैं, और जो इस सम्प्रदाय के प्राचीन और नवीन युग की सन्धि पर स्थित है वह "*उदयनाचार्य*" है। उदयनाचार्य की एक पुस्तक लक्षणावली में समाप्ति की तिथि दी है जो सन् ९८४ ई० ठहरती है। इस प्रकार वह श्रीधर का लगभग समकालीन सिद्ध होता है। उदयनाचार्य ने न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय के अलग अलग और सम्मिलित ग्रन्थ भी लिखे हैं जो कि निम्नलिखित हैं :—

न्याय (i) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि जो कि वाचस्पति के न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की टीका है। यह विस्तृत ग्रन्थ है और अभी केवल इसका प्रथम अंश ही प्रकाशित हुआ है।

(ii) न्यायपरिशिष्ट (एक छोटा सा ग्रन्थ)।

वैशेषिक (iii) किरणावली, प्रशस्तपादभाष्य पर टीका।

(iv) लक्षणावली, वैशेषिक पदार्थों का छोटा सा प्रक्रिया ग्रन्थ।

न्याय-वैशेषिक (v) कुसुमाञ्जलि, जिसमें ईश्वर की सिद्धि की गई है।

(vi) आत्मतत्त्वविवेक या बौद्धधिक्कार, जिसमें आत्मा की स्थापना की गई है और बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन है।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के उपर्युक्त सारे आचार्यों में उदयन ही ऐसा प्रतीत होता है कि जिसका सबसे अधिक प्रभाव नवीन न्याययुग में पाया जाता है, क्योंकि इस युग में उदयन के ग्रन्थों पर जितनी टीकायें लिखी गईं उतनी किसी दूसरे आचार्य के ग्रन्थों पर नहीं पाई जातीं। टीकाओं पर टीका और फिर उस पर टीका, और इस प्रकार टीकाओं की परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्य की एक प्रथा सी प्रतीत होती है। उदयन की परिशुद्धि पर टीका लिखी गई, और उस पर भी और टीका। इस प्रकार यदि हम न्यायसूत्र से चलें तो हमें टीकाओं की एक लम्बी परम्परा दिखाई देती है जिसको उदाहरण के लिये यहाँ दिखाना अप्रासङ्गिक न होगा ; इसमें ऊपर के ग्रन्थ पर नीचे-नीचे का ग्रन्थ टीका रूप है :—

(i) गोतम का न्यायसूत्र।
|
(ii) वात्स्यायन का न्यायभाष्य।
|
(iii) उद्योतकर का न्यायवार्त्तिक।
|
(iv) वाचस्पतिमिश्र की न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका।
|
(v) उदयनाचार्य की न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि।
|
(vi) वर्धमान का न्यायनिबन्धप्रकाश।
|
(vii) पद्मनाभमिश्र का वर्धमानेन्दु।
|
(viii) शङ्करमिश्र का न्यायतात्पर्यमण्डन।

यही टीकाओं की परम्परा वेदान्त आदि के ग्रन्थों में भी पाई जाती है।

ऊपर कहा गया है कि उदयनाचार्य प्राचीन और नवीन युग की सन्धि पर स्थित है। नवीन युग की अर्थात् गङ्गेश की— संक्षिप्त शब्दों में किसी जटिल युक्ति को रखने की— शैली का आभास उदयन की "कुसुमाञ्जलि" और "आत्मतत्त्वविवेक" में स्पष्ट रूप से मिलता है और जिस प्रकार नवीनयुग में जटिल और दुरूह वाग्जाल के भीतर वास्तविक दार्शनिक तत्त्व बहुत न्यून होता है, वही बात उदयन में भी पाई जाती है, और यहाँ तक कि नवीन युग की एक दूसरी विशेषता मिथ्याहङ्कार जिसका वाचस्पतिमिश्र आदि लेखकों में भी लेश नहीं पाया जाता, उदयन में विद्यमान है। कहा जाता है कि उदयन जगन्नाथ के मन्दिर में दर्शनार्थ गया। जब उसने देखा कि मन्दिर के चारों द्वार बंद हैं तब उसने क्रोध में मन्दिर के देवता (ईश्वर) को लक्ष्य करके कहा :— "तुम अपने ऐश्वर्यमद में मत्त हो और मेरा अपमान करते हो, याद रक्खो बौद्धों के उपस्थित होने पर तुम्हारा अस्तित्व भी मेरे अधीन था।"[1]

२५— *तीसरा— ह्रास का युग (अथवा गङ्गेश युग)*

न्याय-वैशेषिक के इतिहास में तीसरा युग बौद्धों के इस देश से निकल जाने के बाद से प्रारम्भ होता है। इसके प्रारम्भ होने का समय ११वीं सदी में है यद्यपि इस युग के मुख्य नेता गङ्गेश का प्रादुर्भाव १२वीं सदी के अन्त में हुआ। यह एक अद्भुत सी बात है फिर भी सत्य है कि इस युग में सूक्ष्म तर्कशक्ति पराकाष्ठा को पहुंच जाती है परन्तु फिर भी उसमें सिवाय वाग्जाल और तत्त्वहीन कल्पित विचारों के कोई वास्तविक दार्शनिक तत्त्व नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस युग की मुख्य

---

1. *ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।*
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

देन गङ्गेश का का नव्यन्याय है। नव्यन्याय को एक प्रकार का 'मानसिक व्यायाम' कह सकते हैं, परन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि तर्क-सम्बन्धी शब्दों के प्रयोग में प्रत्येक शब्द का प्रयोग किस किस विशेष अर्थ में हो रहा है, उसकी तथा उन शब्दों से आने वाले विचारों की ठीक ठीक माप तोल और उनका बहुत ही सूक्ष्म सीमा तक विश्लेषण करने की जो प्रक्रिया नव्यन्याय ने प्रस्तुत की वह सारे संसार के तार्किक साहित्य (Literature of Logic) में अपने ढंग की अनूठी है। इसी प्रक्रिया को '*अवच्छेदकवाद*' शब्द से कहा जाता है और इस अवच्छेदकवाद में सुबन्धु और बाण के लम्बे-लम्बे समास और भी भयानक और जटिलतर रूप में फिर प्रकट होते हैं। नव्यन्याय के अवच्छेदकवाद को समझने के लिये एक छोटा सा उदाहरण देना पर्याप्त होगा:—

नैयायिक के मत में 'दण्ड' 'घट' का कारण है, इसी बात को इस प्रकार कहा जायगा कि दण्ड की कारणता 'दण्डत्वावच्छिन्न' है अर्थात् दण्ड 'द्रव्य' के रूप में भी देखा जा सकता है, 'पृथ्वी' के रूप में भी और 'दण्ड' होने के रूप में भी, परन्तु यहां पर दण्ड की कारणता द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व रूप से नहीं, प्रत्युत दण्ड रूप से है, अर्थात् हम ने दण्ड को दण्डत्व के रूप से औरों से अलग, सीमित=परिच्छिन्न (अवच्छिन्न) किया है; इसलिये कहा जाता है कि 'दण्ड' की कारणता 'दण्डत्वावच्छिन्न' है। इसी प्रकार 'घट' की कार्यता भी 'घटत्वावच्छिन्न' कही जा सकती है। इसी बात को नव्यन्याय की भाषा में इस प्रकार कहेंगे कि "घटत्वावच्छिन्न जो कार्यता उससे निरूपित जो कारणता वह दण्डत्वावच्छिन्न है।" उपर्युक्त उदाहरण में नव्यन्याय की भाषा का बहुत ही साधारण सा आभास मात्र दिखाया है, परन्तु प्रचलित नव्य-न्याय की भाषा इतने जटिल अवच्छेदकों से युक्त होती है कि उसके स्वरूप की मानसिक कल्पना भी बहुत ही दुरूह हो जाती है। इसी दृष्टि से नव्यन्याय को एक 'मानसिक व्यायाम' के रूप में कहा गया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इतनी सूक्ष्म और पेचीदी मानसिक

जटिलताओं से युक्त होने पर भी नव्यन्याय की न तो ज्ञानसिद्धान्तसम्बन्धी (epistemological) और न दर्शनतत्त्वसम्बन्धी (metaphysical) ही कोई महत्त्वपूर्ण देन है।

२६ — *वरदराज, वल्लभाचार्य और शशधर*

प्राचीन और नवीन न्याय के सन्धिकाल में अर्थात् ११वीं सदी में तीन महान् लेखक हुए, जो गङ्गेश से पूर्ववर्ती हैं। इनमें से एक 'तार्किकरक्षा' नामक न्याय-प्रकरण का लेखक वरदराज है। यह ध्यान रखना चाहिये कि न्याय-वैशेषिक सम्मिलित सम्प्रदाय के प्रकरण दो प्रकार के हैं, एक '*वैशेषिक प्रकरण*' हैं कि जिनमें वैशेषिक के द्रव्य गुण आदि सात पदार्थों का क्रम से निरूपण किया जाता है, और गुण के अन्तर्गत ज्ञान की व्याख्या में वैशेषिक के दो प्रमाणों के बदले न्याय के चारों प्रमाणों का वर्णन आ जाता है। दूसरे '*न्याय प्रकरण*' हैं जिनमें न्याय के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि १६ पदार्थों का निरूपण होता है, और प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक के द्रव्य आदि सात पदार्थों को ले लिया जाता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रमेय के अन्तर्गत न्याय के आत्मा आदि प्रमेयों के साथ साथ द्रव्य आदि सात पदार्थों का भी लाना कुछ अस्वाभाविक सा हो जाता है। इसीलिये अधिकतर न्याय-वैशेषिक के सम्मिलित प्रकरण वैशेषिक सम्बन्धी ही हैं। न्यायसम्बन्धी प्रकरणों में कदाचित् पहिला ग्रन्थ वरदराज की तार्किकरक्षा है जिसमें आत्मा इन्द्रिय आदि प्रमेयों के साथ साथ द्रव्य गुण आदि पदार्थों को एक दूसरे प्रकार का प्रमेय-समूह मानकर उनकी व्याख्या की गई है।

११वीं सदी के महान् लेखकों में न्यायलीलावती के कर्त्ता वल्लभाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'न्यायलीलावती' में वैशेषिक के क्रम से ही कतिपय ख़ास ख़ास वैशेषिक के विषयों का आलोचनात्मक विचार किया गया है। न्यायलीलावती पर लिखी गई अनेक टीकाओं से यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ का न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में बहुत अधिक प्रभाव था। इस युग का तीसरा लेखक 'न्यायसिद्धान्तदीप' का कर्त्ता

शशधर है ; जिसके ग्रन्थ में न्याय-वैशेषिक के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर विना किसी विशेष क्रम के आलोचना की गई है।

२७— गङ्गेश और उसके मिथिला के उत्तराधिकारी

१२वीं सदी के अन्त में किसी समय मिथिला में गङ्गेश का जन्म हुआ। उसने भासर्वज्ञ की शैली को अपनाते हुए केवल प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को लेकर अपना महान् ग्रन्थ 'तत्त्व-चिन्तामणि' लिखा। तत्त्वचिन्तामणि के गौरव के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि १२वीं सदी के अन्त से लेकर आज तक न्याय के क्षेत्र में गङ्गेश का अबाधित अधिकार रहा है। भारतीय दर्शन क्षेत्र में कोई भी दूसरा ग्रन्थ, कदाचित् शङ्कर के शारीरक भाष्य को छोड़कर, ऐसा नहीं कि जिसका इतना व्यापक और स्थायी प्रभाव पड़ा हो।

मिथिला में गङ्गेश के बाद अनेक लेखक हुए जिन्होंने उसकी नवीन शैली को प्रगति दी, इनमें से दो के नाम विशेषकर उल्लेखयोग्य हैं ; एक *वर्धमान उपाध्याय* जो कि गङ्गेश का पुत्र था। यद्यपि न्यायशास्त्र को उसकी बहुमूल्य देन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमें अपने पिता की प्रतिभा न थी। उसके ग्रन्थों में तत्त्वचिन्तामणि की टीका 'तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश' है तथा उदयन की तात्पर्यटीका की परिशुद्धि टीका पर 'न्याय-निबन्धप्रकाश' है, जिसके विषय में उदयन के प्रकरण में कहा जा चुका है। उसके अन्य ग्रन्थ किरणावलीप्रकाश, न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश, न्यायलीलावतीप्रकाश और खण्डनखण्डखाद्य-प्रकाश आदि हैं।

दूसरे महान् लेखक *पक्षधर मिश्र* हैं जिनका पहिला नाम जयदेव था, इन्होंने चिन्तामणि पर *आलोक* नामक टीका लिखी तथा अन्य ग्रन्थ लिखे। न्याय के ग्रन्थों के अतिरिक्त इनका बनाया '*प्रसन्नराघव*' नाम का नाटक संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु इनका गौरव विशेषकर उनके दो बंगाली शिष्य, वासुदेवसार्वभौम और रघुनाथशिरोमणि के कारण है जिन्होंने बङ्गाल में नव्यन्याय की स्थापना

की। पक्षधर का समय सम्भवतः १५वीं सदी का मध्यभाग है। गङ्गेश के उत्तरवर्ती मिथिला के लेखकों में एक महान् नाम '*शङ्करमिश्र*' का भी है, जो १५वीं सदी में हुये। उन्होंने अनेक टीका ग्रन्थ लिखे, परन्तु उनका विशेष ग्रन्थ वैशेषिक की टीका '*उपस्कार*' है, जिसके विषय में आगे कहा जायगा।

२८— *नदिया (बङ्गाल) में नव्यन्याय*

मिथिला के विद्वान् नव्यन्याय को मिथिला से बाहर नहीं जाने देते थे और उन ग्रन्थों की किसी को कापी न करने देते थे। यह कहा जाता है कि पक्षधर के बङ्गाली शिष्य वासुदेवसार्वभौम ने नव्यन्याय के ग्रन्थों को याद कर लिया और फिर नदिया में जाकर नव्यन्याय की स्थापना की। नव्यन्याय का प्रादुर्भाव यद्यपि मिथिला में हुआ परन्तु उसका पूर्ण विकास नदिया में ही हुआ, इसलिये नदिया का नाम नव्यन्याय के साथ सदैव जुड़ा रहेगा। नदिया में नव्यन्याय की स्थापना का समय १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

परन्तु बङ्गाल का वह महान् तार्किक जिसका नव्यन्याय के क्षेत्र में गङ्गेश के बाद सर्वश्रेष्ठ स्थान है, *रघुनाथ शिरोमणि* है। रघुनाथ शिरोमणि का जन्म १४७७ ई० के लगभग नदिया में हुआ। शिरोमणि की तत्त्व-चिन्तामणि पर लिखी *दीधिति* टीका ने नव्यन्याय में एक नया युग उपस्थित कर दिया। अगले टीकाकारों ने अधिकतर दीधिति पर ही टीकायें लिखी हैं। शिरोमणि की विचार-स्वतन्त्रता का नमूना उनका एक निबन्ध '*पदार्थतत्त्वनिरूपण*' है जिसमें वैशेषिक के सब पदार्थों का खण्डन किया गया है। रघुनाथ के बाद नव्यन्याय में दो गौरवपूर्ण नाम *मथुरानाथ* और *जगदीश* के हैं, जो कि क्रमशः १६वीं सदी के अन्त और १७वीं सदी के प्रारम्भ में हुये। मथुरानाथ ने तत्त्वचिन्तामणि पर और दीधिति पर अलग-अलग टीकायें लिखीं जो '*माथुरी*' नाम से प्रसिद्ध हैं। जगदीश ने दीधिति पर टीका लिखी जो कि '*जागदीशी*' नाम से प्रचलित है। जगदीश का '*शब्दशक्तिप्रकाशिका*' नामक ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण

ग्रन्थ माना जाता है। '*गदाधर*' में जो कि १७वीं सदी के मध्य में हुये नव्य न्याय का विकास पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। उनकी दीधिति पर लिखी हुई टीका तथा '*व्युत्पत्तिवाद*' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इसके सिवाय उनके अन्य अनेक ग्रन्थ हैं।

२६— *न्याय-वैशेषिक के सम्मिलित प्रकरणग्रन्थ*

न्याय-वैशेषिक के सम्मिलित प्रकरणग्रन्थों के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। ११वीं सदी के बाद से ही इस प्रकार के अनेक प्रकरणग्रन्थ लिखे गये, जो विशेषकर वैशेषिक सम्बन्धी हैं। न्याय के प्रकरणग्रन्थों में '*तार्किक रक्षा*' के बाद '*केशवमिश्र*' की '*तर्कभाषा*' का स्थान है जो कि १३वीं सदी का ग्रन्थ है। इस पर अनेक टीकायें लिखी गईं, जिससे पता चलता है कि किसी समय इस ग्रन्थ का पठन-पाठन में बहुत अधिक प्रचार था। वैशेषिक के पिछले प्रकरण ग्रन्थ '*तर्कसंग्रह*' या '*भाषापरिच्छेद*' की अपेक्षा तर्कभाषा में कहीं अधिक दार्शनिक तत्त्व पाया जाता है, और उनकी अपेक्षा प्राचीन होने के कारण इसमें बौद्ध विचारों का भी थोड़ा बहुत उल्लेख विद्यमान है। वैशेषिक प्रकरणों में 'सर्वदेवसूरि' की 'प्रमाण-मञ्जरी' जो कि अभी हाल में प्रकाशित हुई है, पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है। और भी अनेक प्रकरणग्रन्थ लिखे गये होंगे जिनको १७वीं सदी के '*अन्नंभट्ट*' द्वारा लिखे 'तर्कसंग्रह' और 'विश्वनाथ' द्वारा लिखे '*भाषा-परिच्छेद*' तथा उसी की लिखी टीका 'सिद्धान्तमुक्तावली' के प्रभाव ने सर्वथा लुप्त कर दिया। यह दोनों ग्रन्थ अर्थात् 'तर्कसंग्रह' और 'न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली' पिछले ३०० वर्षों से न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में प्रवेश कराने के लिये लगातार पढ़े जाते रहे हैं। तर्कसंग्रह पर 'दीपिका' नाम की टीका स्वयं ग्रन्थ-कर्त्ता अन्नंभट्ट की लिखी हुई है तथा उस पर और सिद्धान्त-मुक्तावली पर जो अनेक टीकायें हुई हैं उनकी कोई गिनती नहीं। उपर्युक्त दोनों प्रकरणग्रन्थों के सिवाय दो अन्य प्रकरणग्रन्थ भी हैं जैसे एक *जगदीश* का लिखा हुआ 'तर्कामृत' और दूसरा 'लौगाक्षिभास्कर' का ग्रन्थ '*तर्ककौमुदी*'।

३०— नवीन युग में टीका ग्रन्थ

नवीन युग में नव्य न्याय के ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राचीन न्याय के ग्रन्थों पर भी अनेक टीकायें लिखी गईं। इनमें से अधिकतर उदयनाचार्य के ग्रन्थों पर हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के लोग उदयनाचार्य के ग्रन्थों को छोड़कर अन्य प्राचीन न्याय के लेखकों (उद्योतकर, वाचस्पति-मिश्र आदि) को एक प्रकार से भूल ही गये थे। परन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि इस युग में भी कम से कम दो ग्रन्थ ऐसे पाये जाते हैं जो सूत्रों पर टीका के रूप में हैं। इसमें से एक १५वीं सदी के *'शङ्करमिश्र'* का ग्रन्थ वैशेषिक सूत्रों पर 'उपस्कार' नामक टीका है। यद्यपि यह टीका नवीन न्याय की शब्दावली से भरी हुई है तो भी वैशेषिक सूत्रों की एक-मात्र यह टीका बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह स्पष्ट है कि शङ्करमिश्र को इस टीका के लिखने के लिये कोई सहायक टीका नहीं प्राप्त हुई थी क्योंकि उसने लिखा है कि मैंने 'सूत्रमात्र का सहारा लेकर इस टीका को लिखा'[1]। दूसरी टीका १७वीं सदी के विश्वनाथ द्वारा लिखी हुई *'न्यायसूत्रवृत्ति'* है। यह भाषापरिच्छेद और उसकी टीका सिद्धान्तमुक्तावली के लेखक ही विश्वनाथ हैं। १७वीं सदी की लिखी इस टीका से यह पता चलता है कि १७वीं सदी तक भी थोड़ा बहुत प्राचीन ग्रन्थों का पठन-पाठन अवश्य प्रचलित था। परन्तु यह स्पष्ट है कि १८वीं सदी में प्राचीन ग्रन्थ सर्वथा पठन पाठन से बाहर हो चुके थे यहाँ तक कि उस समय मूल न्यायसूत्रों का ढूँढना भी कठिन हो गया था, जैसा कि इस भाग के प्रथम परिच्छेद में बताया गया है।

———

1 *'सूत्रमात्रावलम्बेन' उपस्कार प्रारम्भ का तृतीय श्लोक।*

III

न्याय-वैशेषिक का दर्शनसिद्धान्त

१. दर्शनशास्त्र का लक्ष्य— 'निःश्रेयस'

प्रत्येक भारतीय दर्शन अपने प्रतिपाद्य विषय में 'मोक्ष' या 'निःश्रेयस' को उद्देश्य मानकर प्रवृत्त होता है। भारतीय दर्शन की इस विशेषता को पाश्चात्य आलोचकों ने मानकर उस पर प्रशंसात्मक या दोषात्मक आलोचनायें की हैं। पिछले प्रकार के आलोचक कहते हैं कि भारतीयों की प्रवृत्ति इस लोक को छोड़कर परलोक अथवा किसी दूसरी दुनिया की ओर ही अधिकतर रही है। वास्तविक बात यह है कि मानव जीवन में स्वाभाविक रूप से दो प्रकार की प्रेरणायें पायी जाती हैं, एक इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखती है और दूसरी किसी अलौकिक आदर्श की ओर दौड़ती है। मानव अपनी भौतिक अवस्था से ऊँचा उठकर किसी अलौकिक तत्त्व की साधना करना चाहता है। उस साधना की सफलता या पराकाष्ठा ही 'मोक्ष' या 'निःश्रेयस' है। मोक्ष का अर्थ है— मानव जीवन की भौतिक परिस्थितियों के बन्धन से, जिन में मनुष्य जकड़ा हुआ है, छूट जाना। और 'निःश्रेयस'[1] का अर्थ है मानव जीवन का सब से महान् कल्याण, जिससे बढ़कर कोई कल्याण न हो। यह महान् कल्याण, जैसा कि भूल से समझ लिया जाता है, ईश्वर को पाने या परलोक की किसी उच्च अवस्था में पहुंचने का धार्मिक

---

1 *'निःश्रेयस्' का शब्दार्थ है "नहीं है बढ़कर 'श्रेयस्' अर्थात् कल्याण जिससे"।*

(religious) आदर्श नहीं है, प्रत्युत मानव के जीवन का भौतिक आवश्यकताओं से परे एक ऐसा अलौकिक आदर्श है, जो कि प्रत्येक प्रतिभाशाली मनुष्य के अन्दर सब देशों और सब कालों में पाया जाता है। केवल भारत के दार्शनिकों ने इसको स्पष्ट और निश्चित रूप से समझ कर दर्शनशास्त्र का इसे लक्ष्य माना था।

मानव जीवन की दो प्रकार की आवश्यकतायें हैं। भौतिक (व्यावहारिक या सांसारिक) आवश्यकताओं की पूर्ति करना विज्ञान (साइन्स) का काम है; और अलौकिक तत्त्व की खोज दर्शनशास्त्र का विषय है। भारतीय वाङ्मय में दर्शन और विज्ञान का विभाग एक दूसरे रूप में पाया जाता है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में गिनाई गई चार विद्याओं में (i) त्रयी, (ii) दण्डनीति और (iii) 'वार्त्ता' क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन वर्णों की आजीविका से सम्बन्ध रखती हैं, क्योंकि ब्राह्मण की आजीविका 'त्रयी' अर्थात् तीनों वेदों के अध्ययन और यज्ञादि से सम्बन्ध रखती है, क्षत्रियों की 'दण्डनीति' अर्थात् युद्धविद्या और राजनीति से, तथा वैश्यों की 'वार्त्ता' वाणिज्य और कृषि से सम्बन्ध रखती है। ये तीनों विद्यायें विज्ञान या साइंस के समान मानी जा सकती हैं। परन्तु चौथी (iv) विद्या 'आन्वीक्षिकी' अर्थात् दर्शनशास्त्र है, जो भौतिक आवश्यकताओं से परे मानव जीवन के अलौकिक आदर्श की पूर्ति से सम्बन्ध रखती है। जीवन के दो प्रकार के लक्ष्य या आदर्श माने गये हैं, (i) एक 'अभ्युदय' अर्थात् सांसारिक उन्नति और (ii) दूसरा 'निःश्रेयस', परमार्थ या अलौकिक आदर्श। अभ्युदय की पूर्ति 'त्रयी' आदि तीन विद्याओं से होती है और निःश्रेयस की आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शन शास्त्र से।

२— *न्याय-वैशेषिक का आधुनिक अन्तिम स्वरूप*

यूनान के प्राचीन दर्शन के समान ही भारत में भी दर्शन और विज्ञान का बहुत स्पष्ट अन्तर न था, और दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत भी विज्ञान सम्बन्धी विषय आ जाते थे। मोक्षप्राप्ति के आदर्श को एक प्रकार की

रूढि सा मानकर प्रत्येक दर्शन अपने प्रतिपाद्य विषय को इस भूमिका से प्रारम्भ करता है कि उस दर्शन के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान से ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। यह बताया जा चुका है कि पिछले युग में यद्यपि न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय सम्मिलित रहे हैं तो भी उनका प्रादुर्भाव अलग अलग हुआ था। न्याय का उद्देश्य 'तर्क विद्या' या अनुमान विद्या था, इसलिये उसके अनुसार 'प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन, संशय' आदि सोलह पदार्थों के, जो कि अनुमान विद्या में अपेक्षित हैं, ज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है। 'न्याय' उनका ही वर्णन करता है। परन्तु वैशेषिक के अनुसार संसार में दृश्यमान 'द्रव्य गुण कर्म' आदि सात पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होती है, इसलिये सात पदार्थों का स्वरूप निर्णय करना उसका प्रतिपाद्य विषय है। अपने अपने प्रतिपाद्य विषय को लेकर प्रवृत्त होने वाले न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों में क्रमशः विकास हुआ। पिछले युग के सम्मिलित प्रकरणग्रन्थों (manuals) में उन दोनों के सिद्धान्त एक विशेष रूप में पाये जाते हैं। वैशेषिक के विषय में तो यह बतलाया ही जा चुका है कि प्रशस्तपाद ने उस दर्शन को एक नये ही ढांचे में ढाल दिया। न्याय और वैशेषिक अथवा उन दोनों का सम्मिलित रूप से वर्णन करने वाले आधुनिक युग के लेखक प्रायः यह भूल जाते हैं कि इन दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न युगों में बदलते रहे हैं। वे सब युगों के सिद्धान्तों को प्रायः मिला देते हैं। कोई सिद्धान्त प्राचीन न्याय-वैशेषिक से लेकर, कोई मध्यकाल और कोई नवीन काल से लेकर उन सबको जोड़ देने से उसमें एक अजीब गड़बड़ (Cofusion) पैदा हो जाती है। न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों के वर्णन में यह स्पष्ट रूप से निर्देश होना चाहिए कि किस युग के ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों का निरूपण किया जा रहा है। वर्तमान समय में अंग्रेजी आदि आधुनिक भाषाओं में लिखे गये भारतीय दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में, ध्यान से देखने पर यह पता लगेगा कि, यदि एक सिद्धान्त प्राचीन न्याय-वैशेषिक सूत्रों से लिया है तो दूसरा आधुनिक युग के न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के

सम्मिलित प्रकरणग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' या 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' से लिया गया है, और उन दोनों में कई बार असंगति और विरोध भी पाया जाता है। इसलिये यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ पर न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त का जो निरूपण किया जा रहा है, वह उनके आधुनिक और अन्तिम रूप का है, जैसा कि आधुनिक सम्मिलित प्रकरणग्रन्थों में अर्थात् 'तर्कसंग्रह', 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' आदि में पाया जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि हम कणाद या गोतम के अनुसार अथवा प्रशस्तपाद और वात्स्यायन के अनुसार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों का निरूपण करें तो वह न केवल उपर्युक्त सम्मिलित प्रकरणग्रन्थों में दिये हुये स्वरूप से भिन्न होगा, प्रत्युत वह परस्पर भी एक दूसरे से अंशतः भिन्न होगा। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों के सम्मिलित प्रकरणग्रन्थों में दिये हुये आधुनिक और अन्तिम स्वरूप की रूपरेखा बहुत अंश तक प्रशस्तपाद ने तैयार कर दी थी। उसके बाद सिद्धान्तों में, विशेषकर प्रमाणवादसम्बन्धी सिद्धान्तों में, अन्तर हुआ है, परन्तु रूपरेखा लगभग वही है।

३ न्याय-वैशेषिक की मौलिक समस्या

न्याय-वैशेषिक संप्रदाय में बाह्य जगत् का निरूपण वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात पदार्थों के रूप में किया गया है। ध्यान देने से पता चलेगा कि यह निरूपण किसी अंश में दार्शनिक और किसी अंश में भौतिकविज्ञानसम्बन्धी है। उदाहरणार्थ संसार का द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों में विभाजन एक दार्शनिक प्रक्रिया है, परन्तु पृथ्वी, जल आदि के चार प्रकार के परमाणुओं का निरूपण और उससे स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन भौतिकविज्ञान का विषय है जो कि आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से इस समय सर्वथा अनुपादेय हो चुका है और उसका मूल्य केवल ऐतिहासिक रह गया है। जहाँ तक द्रव्यादि सात पदार्थों के निरूपण का विषय है, वह एक दार्शनिक समस्या है, और उसका स्वरूप भली-भाँति समझना आवश्यक है।

जब हम किसी वस्तु को, उदाहरणार्थ घट या पट को, देखते हैं और उसके अन्दर रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि अनेक गुणों को या हिलने जुलने आदि की क्रिया कोदेखते हैं तो एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्या वह वस्तु, जिसमें गुण क्रिया आदि अनेक प्रकार के धर्म दिखाई देते हैं, उन धर्मों से भिन्न है। उदाहरणार्थ क्या 'पट' और 'पट का रूप' ये अलग-अलग दो वस्तुएं हैं या वे दोनों एक ही वस्तु हैं। मनुष्य की सामान्य बुद्धि को यह प्रतीति होती है कि पट एक वस्तु है कि जिसमें रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि अनेक गुण रहते हैं, परन्तु जब यह प्रश्न होता है कि दृश्यमान रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि गुणों से भिन्न उन गुणों का आधार पट रूप वस्तु क्या हो सकती है, तो सामान्य बुद्धि इस प्रकार के विश्लेषण के आगे एक कठिनता में पड़ जाती है क्योंकि न तो दृश्यमान गुणों के अतिरिक्त उनका आधार 'धर्मी', 'वस्तु' या 'द्रव्य' कोई अलग दीख पड़ता है और न यह समझ में आता है कि इन धर्मों का आधार कोई धर्मी या द्रव्य नहीं और केवल अलग अलग गुण आदि 'धर्म' ही हैं। वस्तुतः दर्शनशास्त्र की, विशेषकर भारतीय दर्शन की, यह एक मौलिक समस्या है और इस समस्या के उत्तर देने में ही, जैसा कि आगे दिखाया जायेगा, चार प्रकार की भारतीय दार्शनिक विचारधारा का अर्थात् (i) न्याय-वैशेषिक का, (ii) सांख्य का, (iii) वेदान्त का, और (iv) बौद्ध का, दार्शनिक स्वरूप स्थापित होता है।

४— *न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का आधार— धर्मधर्मिभेद*

उपर्युक्त समस्या के उत्तर में न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि 'पट' और 'पटरूप' तत्त्वतः दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, यद्यपि वे एक साथ ही पाई जाती हैं। वे दोनों इतनी भिन्न-भिन्न हैं कि 'पट' और 'पटरूप' के कारण भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस प्रकार 'पट' 'पटरूप' से भिन्न है, इसी प्रकार पट में रहने वाली गति या क्रिया भी पट से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार पट में रहने वाला 'पटत्व' नामक सामान्य धर्म (universal) भी पट से भिन्न है। इन 'रूप' आदि धर्मों से भिन्न सर्वथा पृथक्

'पट' किस प्रकार की वस्तु है ? इस पर न्याय का उत्तर है कि 'रूप' आदि धर्मों से भिन्न धर्मी का अनुभव मनुष्य की सामान्य बुद्धि को साक्षात् रूप से होता है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार '*धर्मधर्मिभेद*' न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का आधारभूत सिद्धान्त है। इस पर बौद्ध वेदान्ती आदि दूसरे दार्शनिक सम्प्रदायों ने यह आक्षेप किया कि यदि 'पट' और 'पटरूप' सर्वथा भिन्न दो वस्तु हैं तो वे कभी कभी अलग भी पायी जानी चाहियें, क्योंकि गौ अश्व के समान जो दो वस्तुएँ सर्वथा भिन्न हैं, वे अलग भी पाई जाती हैं। नैयायिक का उत्तर है कि पट और पटरूप अर्थात् द्रव्य और गुण अथवा धर्मी और धर्म यद्यपि तत्त्वतः सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, परन्तु वे इस प्रकार की भिन्न वस्तु हैं कि जिनका यह भी स्वभाव है कि उनमें से एक वस्तु ऐसी है, जो दूसरी के विना नहीं पाई जाती अर्थात् पटरूप पट के विना कदापि नहीं पाया जाता। ऐसी वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को "*समवाय*" कहते हैं। दो अलग अलग द्रव्यों का जैसे कि घट और पट का सम्बन्ध 'संयोग' कहलाता है, परन्तु ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध जिनमें से एक दूसरी के विना न रह सकती हो समवाय सम्बन्ध कहलाता है।

इस प्रकार यह पता चलेगा कि न्याय-वैशेषिक पहिले दार्शनिक विश्लेषण के द्वारा एक साथ प्रतीत होने वाले 'द्रव्य' और 'गुण' को अलग-अलग कर देता है, फिर उनको जोड़ने के लिये 'समवाय' नामक एक नये सम्बन्ध की कल्पना करता है। जिस प्रकार '*धर्म-धर्मिभेद*' न्याय-वैशेषिक का एक मौलिक सिद्धान्त है, उसी प्रकार '*समवाय*' का भी सिद्धान्त है; और वे दोनों एक दूसरे से जुड़े हुये हैं।

साधारणतया मनुष्य की सामान्य बुद्धि को द्रव्य और गुण, उदाहरणार्थ पट और पटरूप, दो अलग अलग वस्तु, जिनका तत्त्व, स्वरूप (essence) भिन्न भिन्न हो, प्रतीत नहीं होती, परन्तु फिर भी न्याय-वैशेषिक उनके अलग अलग दो वस्तु होने पर इतना बल क्यों देता है ? इसका उत्तर यही है कि यदि '*धर्म-धर्मि-भेद*' का सिद्धान्त छोड़ दिया जाय

तो अन्ततः उसका परिणाम यह होगा कि बाह्य जगत् का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायगा, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा।

कारण-सिद्धान्त (Theory of Causation) प्रत्येक भारतीय दर्शन का एक आवश्यक सिद्धान्त है। यहाँ तक कि उस दर्शन के सारे सिद्धान्तों की रूपरेखा उसके साथ जुड़ी होती है। न्याय-वैशेषिक का 'कारण-सिद्धान्त' *असत्कार्यवाद* या *आरम्भवाद* है, जिसका सांख्य, वेदान्त और बौद्ध के कारणवाद के साथ तुलनात्मक निरूपण पहिले किया जा चुका है (देखो भाग १, परिच्छेद २६)। ध्यान से देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि न्याय-वैशेषिक का 'असत्कार्यवाद' का सिद्धान्त भी '*धर्म-धर्मि-भेद*' पर निर्भर है। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य 'पट' अपने कारण 'तन्तु' से सर्वथा भिन्न वस्तु है। वस्तुतः होता यह है कि जब तन्तुओं में कुछ नये प्रकार के संयोग होकर नया संस्थान (arrangement) या नयी आकृति बन जाती है तो उसी को हम 'पट' कहते हैं। यदि धर्म धर्मी से भिन्न न हो तो हम कह सकते हैं कि तन्तुओं में ही कुछ नये धर्म प्रकट हो गये, और 'पट' तन्तुओं से भिन्न कोई नई वस्तु नहीं है, जैसा कि 'सत्कार्यवादी' सांख्य ने कहा। परन्तु यदि धर्म धर्मी से सर्वथा भिन्न है तो तन्तु के पट अवस्था में आने पर दिखाई देने वाले नये धर्म तन्तु के नहीं हो सकते। अतएव 'धर्म-धर्मि-भेद' के सिद्धान्त से यह बात आ जाती है कि जब नये धर्म दिखाई देते हैं तब यह भी कल्पना आवश्यक है कि धर्मी भी अर्थात् द्रव्य भी कोई नया ही उत्पन्न हो गया है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि तन्तुओं के अतिरिक्त 'पट' नामक एक नया द्रव्य उत्पन्न हो गया है, जो कि पहिले नहीं था, इसलिये यह सिद्धान्त '*असत्कार्यवाद*' कहलाता है। और क्योंकि नया द्रव्य उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह सिद्धान्त '*आरम्भवाद*' भी कहलाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद अथवा सारे ही सिद्धान्तों का आधारभूत '*धर्म-धर्मि-भेद*' (*essential* difference between substance and its attributes) सिद्धान्त ही है।

५— *अन्य दर्शनों में धर्मी और धर्म का स्वरूप*

न्याय-वैशेषिक के बाद यदि सांख्य को लें तो वह धर्म और धर्मी दोनों पदार्थों को मानता है। किन्तु वह उनका तत्त्वतः भेद नहीं मानता, अर्थात् सांख्य के अनुसार 'तन्तु' धर्मी है और उसमें जब कुछ नये धर्म उत्पन्न हो जाते हैं तो वह 'पट' कहलाता है। और क्योंकि धर्म का तत्त्व (essence) धर्मी से भिन्न नहीं है, अतएव वस्तुतः अर्थात् तत्त्वतः (essentially) 'पट' तन्तु से भिन्न नहीं है। इसीलिये सांख्य का कारणवाद 'सत्कार्यवाद' कहलाता है, जिसके अनुसार कार्य कारण से भिन्न नहीं है। दोनों का तत्त्व (essence) एक ही है। तन्तु ही बदलकर पट के रूप में हो जाते हैं। पट कोई नई वस्तु नहीं, जैसा कि न्याय-वैशेषिक ने माना है, अपितु तन्तु का ही 'विकार' या 'परिणाम' पट है, इसलिये सांख्य के सत्कार्यवाद को 'परिणामवाद' या 'विकारवाद' भी कहते हैं। धर्म और धर्मी की दृष्टि से सांख्य के मत को '*धर्म-धर्मि-तादात्म्य*' का सिद्धांत कहा जा सकता है।

सांख्य के परिणामवाद के विरुद्ध यह प्रश्न हुआ कि यदि तन्तुओं का तत्त्व पट की अवस्था में नहीं बदलता, और तात्त्विक दृष्टि से (essentially) तन्तु ही पट हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि पट में जो नये धर्म प्रतीत होते हैं, वे तत्त्वतः अर्थात् वस्तुतः नहीं हैं, दूसरे शब्दों में केवल उन नये धर्मों का भ्रम ही हो रहा है। अतएव सांख्य के 'विकार-वाद' से हम 'वेदान्त' के 'विवर्तवाद' तक पहुँचते हैं, जिसके अनुसार 'तन्तु' ही बने रहते हैं, केवल तन्तुओं में पट का भ्रम हो जाता है। जिस प्रकार जब रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है, तो रज्जु वस्तुतः बदलकर सर्प नहीं हो जाती, प्रत्युत सर्प की रज्जु में भ्रान्तिमात्र होती है। इसी प्रकार यदि तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो तन्तु में भी 'पट' की भ्रान्ति ही है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार 'पट' असत् है केवल 'तन्तु' सत् हैं, अर्थात् धर्म असत् हैं, केवल धर्मी ही सत् है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य को 'असत्' मानकर उसके कारण को ही 'सत्' मानें तो वह कारण भी

स्वयं अपने कारण की दृष्टि से 'कार्य' होगा अर्थात् असत् होगा, इस प्रकार हम मूलकारण 'ब्रह्म' तक पहुँच जाते हैं, और वेदान्ती के अनुसार केवल ब्रह्म ही 'सत्' है, वही एक मात्र धर्मी है और उसमें दिखाई देने वाला यह सारा संसार, जो कि ब्रह्म का कार्य है, 'असत्' धर्मों के समान है, इसलिये यह सब जगत् असत् है। केवल ब्रह्म ही वस्तुतः सत् है। इसलिये इस प्रकार वेदान्त का सिद्धान्त '*धर्मिमात्रसद्भाव*' का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

दूसरी ओर बौद्ध भी न्याय-वैशेषिक और सांख्य के सिद्धान्त का विरोध करते हुये वेदान्ती से इस बात में सर्वथा सहमत है कि धर्म और धर्मी दो अलग-अलग पदार्थ नहीं हो सकते, उनमें से एक का ही अस्तित्व सम्भव है। परन्तु बौद्ध अनुभव का सहारा लेकर कहता है कि जब हम एक घट जैसी वस्तु को देखते हैं तो घट के रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई के अतिरिक्त 'घट' नाम का कोई द्रव्य उन गुणों से अलग दिखायी नहीं देता, अतः गुणों की अथवा 'धर्मों' की ही वास्तव में वाह्य जगत् में यथार्थ सत्ता है और 'धर्मी' या द्रव्य केवल मानसिक कल्पना मात्र हैं। इसलिये बौद्ध के अनुसार नये नये धर्म विना किसी द्रव्यरूप आधार के उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कारणवाद में बौद्ध सिद्धान्त 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का रूप ग्रहण करता है, जिसका अर्थ यह है कि एक वस्तु के होने पर अर्थात् 'कारण' के होने पर दूसरी वस्तु अर्थात् 'कार्य' उत्पन्न होता है; कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है और कार्य एक सर्वथा नयी वस्तु होती है। कारण और कार्य के बीच में उन दोनों को मिलाने वाला कोई स्थिर तत्त्व या धर्मी नहीं है। केवल धर्म ही बाह्य जगत् में होने से परमार्थ सत् है। इस प्रकार धर्म और धर्मी की समस्या की दृष्टि से बौद्धमत को '*धर्ममात्रसद्भाव*' का सिद्धान्त कह सकते हैं। उसके अनुसार 'धर्मी' अर्थात् बाह्य जगत् में द्रव्यरूप से प्रतीत होने वाले पदार्थों का वास्तविक अस्तित्व नहीं, और वे केवल मानसिक कल्पनामात्र हैं। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि 'धर्म-धर्मि-भेद' के सिद्धान्त को छोड़ दिया जाय तो सांख्य का

'धर्मधर्मितादात्म्य' सिद्धान्त तो ठहरता नहीं, और केवल वेदान्त के अनुसार धर्मी के अस्तित्व मानने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बाह्य जगत् का अस्तित्व अर्थात् बाह्यार्थवाद (realism) नहीं ठहर सकता। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्यार्थवाद की स्थापना करने वाले न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने '*धर्मधर्मिभेद*' के सिद्धान्त का इतनी दृढता-पूर्वक क्यों समर्थन किया।

६— *न्याय-वैशेषिक के सात पदार्थ*

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों की तुलना में 'धर्म-धर्मि-भेद' न्याय-वैशेषिक का आधारभूत सिद्धान्त समझने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जायगा कि उस सम्प्रदाय ने सात पदार्थों की कल्पना किस प्रकार की। उस पदार्थ-कल्पना के द्वारा ही वैशेषिक बाह्यार्थवाद (Realism) की स्थापना करता है। न्याय-वैशेषिक का दर्शनतत्त्व मनुष्य की सामान्य बुद्धि पर आश्रित है, इसलिये मानव-बुद्धि के साधारण अनुभव पर ही वैशेषिक की पदार्थ कल्पना भी आश्रित है। आगे यह दिखाया जायगा कि सामान्य अनुभव के विश्लेषण से ही हम सात पदार्थों तक पहुँच जाते हैं :—

द्रव्य :— हम संसार में अनेक वस्तुओं को देखते है और उनके अन्दर हमें कतिपय धर्म[1] गुण या कर्म के रूप में रहते हुये दिखाई देते हैं। जैसा

---

1 *भारतीय दर्शन में 'धर्म' शब्द व्यापक अर्थ में आता है। जब एक वस्तु दूसरी में रहती है तो जो वस्तु रहती है वह 'धर्म' है, और जिसमें रहती है वह धर्मी कहा जाता है। इस दृष्टि से द्रव्य में रहने वाले न केवल 'गुण' और 'कर्म' धर्म हैं प्रत्युत 'सामान्य' और 'विशेष' जो द्रव्य में रहते हैं वे भी उसके धर्म हैं, यहाँ तक कि स्वयं द्रव्य भी द्रव्य में रहता है, क्योंकि अवयवी जो कि द्रव्य है अपने अवयवों में जो कि स्वयं भी द्रव्य हैं, रहता है; जैसे कि पट एक अवयवी है और द्रव्य है, वह अपने अवयव तन्तुओं में अर्थात् द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार गुण कर्म की अपेक्षा धर्म एक व्यापक शब्द है। यों तो 'दण्डयुक्त पुरुष है' इस वाक्य में पुरुष*

कि ऊपर दिखाया जा चुका है कि न्याय-वैशेषिक धर्मधर्मिभेद को मानकर चलता है, इसलिये पदार्थ अर्थात् धर्मी और उनमें रहने वाले धर्म परस्पर तत्त्वतः (essentially) भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। इस प्रकार हमारे अनुभव में पहिली बात यह आती है कि संसार में कुछ वस्तु धर्मी या द्रव्य के रूप में हैं जिनके अन्दर अनेक प्रकार के धर्म रहते हैं, इसलिये बाह्य जगत् के पदार्थों में सबसे पहिले द्रव्य को माना जाता है।

गुण और कर्म :— द्रव्यों में दो प्रकार के धर्म प्रतीत होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो स्थिर रूप से रहते हैं और कुछ ऐसे धर्म हैं जो थोड़े से समय के लिये प्रतीत होकर चले जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि हम एक घट को लें तो उसमें रूप स्पर्श लम्बाई चौड़ाई आदि ऐसे धर्म हैं जो उसमें स्थिर रूप से रहते हैं। परन्तु यदि हम उस घट को हिलायें या गति दें तो हिलना या गति घट के ऐसे धर्म हैं जो कि घट में केवल कुछ क्षणों के लिये प्रतीत होते हैं। पहिले प्रकार के अर्थात् घट में स्थिर रूप से रहने वाले धर्मों को '*गुण*' कहा जाता है और दूसरे प्रकार के क्षणिक रूप से प्रकट होने वाले धर्मों को '*कर्म*' कहा जाता है। हमारे सामान्य अनुभव में यह बात स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के धर्म अर्थात् गुण और कर्म अपने स्वरूप अर्थात् तत्त्व (essence) में भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार हम बाह्य जगत् में दो अन्य पदार्थों का निश्चय करते हैं अर्थात् गुण और कर्म। यदि साधारणतया अर्थात् मोटे तौर पर देखा जाय तो बाह्य जगत् इन तीन ही तत्त्वों अर्थात् पदार्थों से बना हुआ है, इसलिये कणाद ने द्रव्य, *गुण* और *कर्म* इन्हीं तीन को 'अर्थ' अर्थात् 'पदार्थ' कहा और इन तीन के अन्दर ही सत्ता नामक जाति को माना है जिसका स्वरूप आगे स्पष्ट हो जायगा।

से संयुक्त दण्ड भी पुरुष का धर्म कहा जा सकता है। परन्तु यदि इतना व्यापक अर्थ न लें अर्थात् संयुक्त वस्तुओं में एक को दूसरे का धर्म न मानें, तो भी जो धर्म किसी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं वे सभी, अर्थात् गुण, कर्म सामान्य और विशेष, यहाँ तक कि अवयवी रूप में रहने वाला द्रव्य भी 'धर्मी' द्रव्य (अर्थात् जिसमें वे रहते हैं) के धर्म माने जायंगे।

सामान्य :— हम यह भी देखते हैं कि संसार में बहुत से द्रव्य अथवा वस्तु ऐसीं हैं जो एक सी ही प्रतीत होती हैं और उनके लिए हम एक ही शब्द बोलते हैं। जब संसार के अनेक घटों को एक सामान्य 'घट' शब्द से कहा जाता है तो स्वाभाविक रीति से हमारी साधारण बुद्धि यह कहती है कि उन सारे धर्मों में कोई ऐसा समान धर्म होना चाहिये जिसके कारण वे सब द्रव्य अर्थात् व्यक्ति एक ही नाम से कहे जाते हैं। उसी सामान्य धर्म को न्याय-वैशेषिक में 'सामान्य' नामक चतुर्थ पदार्थ गिना है। परन्तु न्याय-वैशेषिक में जहाँ-जहाँ कुछ वस्तुओं में सामान्य धर्म पाया जाय उन सब स्थलों पर सामान्य नहीं माना जाता, किन्तु कुछ विशेष स्थलों पर ही जिसका विवरण आगे दिया जायगा सामान्य नामक बाह्य अस्तित्व रखने वाला पदार्थ माना जाता है। परन्तु बहुत सी जगह पर सामान्य नामक अलग पदार्थ न मानकर कतिपय सामान्य धर्मों के आधार पर उन पदार्थों में जो एक साधारण धर्म की मानसिक कल्पना होती है उसे 'उपाधि' कहते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्यों में रहने वाला 'मनुष्यत्व' या अनेक घटों में रहने वाला 'घटत्व' बाह्य जगत् में अस्तित्व रखने वाले सामान्य पदार्थ हैं जिनको न्याय-वैशेषिक नित्य पदार्थ मानता है परन्तु सारे भारत-निवासियों के रहने वाला 'भारतीयत्व' बाह्य अस्तित्व रखने वाली कोई जाति नहीं है प्रत्युत वह एक उपाधि मात्र है।

सामान्य का बाह्य अस्तित्व : ऐसा प्रतीत होता है कि कणाद ने बाह्य जगत् में स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले सामान्य की कल्पना नहीं की थी, इस प्रकार कणाद के मत में जाति और उपाधि का कोई अन्तर न था, अनेक पदार्थों में प्रतीत होने वाले कतिपय सामान्य धर्मों को ही जाति या सामान्य शब्द से कहा गया था, और कणाद के अनुसार 'मनुष्यत्व' के समान ही 'भारतीयत्व' या 'काशीनगरनिवासित्व' ये सब सामान्य माने जा सकते थे क्योंकि कणाद के मत में 'सामान्य' बाह्य पदार्थ न होकर एक मानस पदार्थ था जो कि बुद्धि अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा से माना गया

था[1]। परन्तु प्रशस्तपाद ने सामान्य को एक बाह्य और नित्य पदार्थ के रूप में स्थापित किया और उस नित्य सामान्य का उपाधि से भेद किया गया। प्रशस्तपाद के इस नये सिद्धान्त के अनुसार जहाँ अनेक पदार्थों में बाह्य रूप से रहने वाला एक पृथक् सामान्यात्मक धर्म दिखलाई देता है जैसे घटत्व, पटत्व आदि उसको उसने एक नित्य बाह्य-पदार्थ के रूप में 'सामान्य' पदार्थ माना। परन्तु जो सामान्य धर्म एक पृथक् बाह्य वस्तु के रूप में न होकर केवल कुछ समान धर्मों के मानसिक ज्ञान पर निर्भर हो उसको 'उपाधि' माना गया। न्याय-वैशेषिक में अनेक सामान्य धर्मों के समूह के बदले एक पृथक् बाह्य पदार्थ रूप सामान्य के मानने पर इतना बल क्यों दिया गया है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि सामान्य को बाह्य जगत् में अस्तित्व रखने वाले नित्य पदार्थ के रूप में न माना जाय तो बाह्य जगत् का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है, क्योंकि बाह्य जगत् के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि हम जिन पदार्थों को जिस रूप में देखते हैं वे पदार्थ उसी रूप में बाह्य जगत् में भी अस्तित्व रखते हों। इसलिये 'यह घट है', 'यह पट है' इत्यादि प्रकार का सविकल्पक प्रत्यक्ष यदि यथार्थ है तो उस प्रत्यक्ष से प्रतीत होने वाले पदार्थ भी यथार्थ माने जायेंगे। इसलिये बाह्य जगत् के अस्तित्व के लिये यह आवश्यक है कि हमारा सविकल्पक प्रत्यक्ष यथार्थ हो अर्थात् वह बाह्य जगत् की वस्तुसत्ता पर आश्रित हो न कि केवल हमारी कल्पना मात्र पर, क्योंकि 'यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि ज्ञान में यदि कुछ अंश भी बाह्य वस्तुसत्ता को छोड़कर केवल हमारे मानस ज्ञान पर आश्रित समझा जाय तो स्वभावतः दृश्यमान बाह्य पदार्थों का अस्तित्व संदिग्ध हो जाता है और यह सन्देह होने लगता है कि कदाचित् ये दृश्यमान बाह्य पदार्थ सर्वथा या अंशरूप से मानसिक कल्पना मात्र हों। इसलिये यह आवश्यक है कि हमारा सविकल्पक प्रत्यक्ष सर्वथा बाह्य वस्तुसत्ता पर आश्रित हो। जब हमें एक घट की प्रतीति होती है तो वहाँ

---

1 *सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्। वैशेषिक सूत्र १, २, ३.*

पर 'घटत्व' रूप सामान्य विशेषण से युक्त एक वस्तु दीखती है जिसे हम घट कहते हैं। अब यदि यह सामान्य 'घटत्व' आदि बाह्य वस्तु रूप न होकर केवल कतिपय सामान्य धर्मों से बनी हुई मानसिक उपाधि मात्र हो तो यह स्पष्ट है कि दृश्यमान पदार्थों का एक अंश बाह्य अस्तित्व न रखने वाला केवल मानसिक कल्पना मात्र होगा, और ऐसी दशा में दिङ्नाग की इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि सविकल्पक प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान नहीं है क्योंकि उसके अन्दर जो सामान्य की प्रतीति है वह केवल हमारी कल्पना मात्र है। इस प्रकार बाह्य जगत् की यथार्थता स्थापित करने के लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष की यथार्थता आवश्यक है और उसकी यथार्थता के लिये यह आवश्यक है कि सामान्य को बाह्य अस्तित्व रखने वाली वस्तु के रूप में माना जाय। इसलिये न्याय-वैशेषिक के अनुसार जब 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में वस्तु का जो सामान्य रूप भासता है वह भी यथार्थ है, अर्थात् बाह्य जगत् में अस्तित्व रखता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बाह्यार्थवाद (Realism) की स्थापना के लिये यह आवश्यक हो गया कि कणाद के 'सामान्य' को जो केवल मानसिक पदार्थ था बाह्य जगत् में 'यथार्थ सत्' माना जावे। इसलिये जहाँ कणाद ने केवल प्रथम तीन पदार्थ द्रव्य गुण और कर्म को बाह्य सत (externally real) माना, वहाँ प्रशस्तपाद ने न केवल 'सामान्य' को ही प्रत्युत पिछले तीनों पदार्थ अर्थात् सामान्य, विशेष और समवाय को बाह्य रूप से सत् पदार्थ माना। यह बहुत बड़ा अन्तर है जो प्रशस्तपाद ने कणाद के दर्शन में किया।

पर और अपर सामान्य: इसके बाद यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह सामान्य व्यापक अर्थात् 'पर' और अव्यापक अल्प देश में रहने वाले अर्थात् 'अपर' भी हो सकते हैं। न्याय-वैशेषिक में सब से बड़ा सामान्य 'सत्ता' को माना गया है क्योंकि वह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में रहती है। इस से बड़ा कोई सामान्य नहीं है क्योंकि सामान्य, विशेष, समवाय इन पिछले तीन पदार्थों में सामान्य या जाति नहीं मानी

जाती। सत्ता के बाद द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व ये सामान्य हैं जो द्रव्य आदि पदार्थों में रहते हैं। द्रव्यत्व सामान्य नौ द्रव्यों में रहता है। वह सत्ता की अपेक्षा अल्प देश में रहने से अपर सामान्य है और उसकी अपेक्षा सत्ता पर सामान्य है। और सत्ता की अपेक्षा क्योंकि कोई बड़ा सामान्य नहीं इसलिये सत्ता केवल 'पर सामान्य' है, परन्तु द्रव्यत्व जो कि सत्ता की अपेक्षा 'अपर' है, द्रव्य के अन्तर्गत आने वाले पृथिवीत्व आदि सामान्यों की अपेक्षा 'पर' भी है। इसलिये उसे 'परापर' सामान्य कह सकते हैं। साथ ही द्रव्यत्व नौ द्रव्यों में रहने के कारण उनका 'सामान्य' धर्म है परन्तु 'द्रव्यत्व' व्यापक सत्ता की अपेक्षा 'विशेष' भी है क्योंकि वह द्रव्य पदार्थ को गुण और कर्म से अलग करता है। इस प्रकार द्रव्यत्व 'सामान्य' भी है और 'विशेष' भी है। इस प्रकार सत्ता 'केवल सामान्य' है परन्तु द्रव्यत्व 'सामान्यविशेष' है। इसी प्रकार द्रव्यत्व से छोटे 'पृथिवीत्व', 'घटत्व' आदि को 'सामान्य विशेष' कहा जा सकता है क्योंकि घटत्व भी जहाँ किसी घट का अन्य घटों के साथ सामान्य धर्म है वहाँ घटत्व 'पट' आदि से घट का 'विशेष' भी स्थापित करता है इसलिये घटत्व को भी 'सामान्य विशेष' कह सकते हैं। इस प्रकार कणाद ने सत्ता को छोड़कर अन्य सामान्यों को "सामान्य विशेष" के रूप में माना।

विशेष— परन्तु यदि 'सामान्य' को नित्य पृथक् बाह्य वस्तु के रूप में देखें तो किन्हीं भी दो या अधिक वस्तुओं में रहने वाले साधारण धर्म को 'सामान्य' कह सकते हैं। इस दृष्टि से कई अवयवों में रहने वाला 'अवयवी' भी उन अवयवों का सामान्य धर्म है अर्थात् पट को तन्तुओं का सामान्य धर्म समझा जा सकता है, और इसी प्रकार तन्तुओं को तन्तु के अवयव अंशुओं का सामान्य धर्म समझा जा सकता है। परन्तु इस प्रकार जब हम परमाणुओं तक पहुँच जाते हैं, तो उनके अवयव न होने से परमाणु उस दृष्टि से अवयविरूप कोई सामान्य नहीं हो सकते। इस प्रकार यह कल्पना की गई प्रतीत होती है कि परमाणुओं में 'सामान्य' न

रह कर 'विशेष' ही रहता है। परन्तु यह बात अवयवी के रूप में 'सामान्य' के न होने की दृष्टि से कही गयी है। वैसे परमाणु में भी पृथिवीत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य रहते ही हैं।

इसके सिवाय परमाणुओं के विषय में एक और भी बात ध्यान देने योग्य है। घट आदि जो बिल्कुल समान द्रव्य हैं, जिनमें घटत्व, पृथिवीत्व, द्रव्यत्व आदि समान ही जातियाँ रहती हैं, उनका परस्पर भेद उनके अवयवों के द्वारा होता है, क्योंकि दो घटों के अवयव भिन्न भिन्न हैं। परन्तु पृथिवी के दो परमाणुओं का, जिनमें जाति आदि समान हैं, और कोई अवयव भी नहीं, परस्पर भेद किस प्रकार होगा? और यदि परमाणुओं में परस्पर भेद न हो सके तो परमाणुवाद की स्थापना भी कैसे होगी? इसलिये दो समान परमाणुओं का परस्पर भेदक 'विशेष' नामक पदार्थ है, यह कल्पना की गई। इस प्रकार विशेष की कल्पना परमाणुवाद का एक आवश्यक अङ्ग है और जैसा कि पहले कहा गया है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कणाद का नाम (कण अर्थात् परमाणुओं का खाने वाला) यह प्रकट करता है कि कणाद परमाणुवाद का संस्थापक था। और इस सम्प्रदाय का नाम 'वैशेषिक' भी 'विशेष' पदार्थ के कारण ही पड़ा होगा।

परन्तु विशेष पदार्थ का उपर्युक्त प्रकार से एक अलग पदार्थ के रूप में निरूपण प्रशस्तपाद में ही पाया जाता है। कणाद के सूत्रों में 'विशेष' शब्द 'सामान्य-विशेष' के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि 'सामान्य-विशेष' के अतिरिक्त परमाणुओं में रहने वाले विशेष पदार्थ का भी कणाद को पता था क्योंकि उसने एक जगह कहा है कि 'सामान्य-विशेष' नामक विशेष 'अन्त्य' विशेषों से भिन्न है[1]। ये 'अन्त्य विशेष' परमाणुओं के परस्पर भेदक 'विशेष' पदार्थ ही हो सकते हैं। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि कणाद ने इस सूत्र के सिवाय परमाणु में रहने वाले 'अन्त्य विशेष' पदार्थ का वर्णन कहीं नहीं किया है। परमाणु

---

1 अन्यत्र अन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः (वैशेषिक सूत्र १/२/६)

में रहने वाले विशेष पदार्थ को 'अन्त्य विशेष' क्यों कहते हैं, यह भी ऊपर के 'सामान्य-विशेष' के निरूपण से स्पष्ट हो जाता है। सत्ता केवल सामान्य मात्र है, वह विशेष' नहीं, 'द्रव्यत्व' आदि 'सामान्य' और 'विशेष' दोनों हैं। परन्तु परमाणु में रहने वाला 'विशेष' केवल 'विशेष' ही है, इस प्रकार जाति की एक ओर अन्तिम सीमा 'सामान्य' है और दूसरी ओर अन्तिम सीमा 'विशेष' है। परन्तु जाति को 'सामान्य' धर्म रूप पदार्थ माना गया है। इसलिये सत्ता और द्रव्यत्व पृथिवीत्व आदि 'सामान्य-विशेष' सब सामान्य के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु 'विशेष' सामान्यात्मक न होने से एक अलग पदार्थ माना गया है।

यह भी स्पष्ट है कि अनुभव के आधार पर वाह्य जगत् में जिन द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य पदार्थों की कल्पना होती है उनमें 'विशेष' का कोई स्थान नहीं है, और न द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य तथा समवाय (जिसका निरूपण आगे किया जायेगा) के समान 'विशेष' पदार्थ का बाह्यार्थवाद (realism) की स्थापना में ही कोई स्थान है, प्रत्युत परमाणुवाद की दृष्टि से ही उसकी कल्पना हुई है, इसलिये न्याय-वैशेषिक के समान ही बाह्यार्थवाद को मानने वाले और अनेक अंशों में न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तों को मानने वाले कुमारिल और प्रभाकर के दोनों ही पूर्वमीमांसा सम्प्रदायों ने 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार नहीं किया।

साधारणतया समान परमाणुओं के परस्पर भेदक के रूप में ही 'विशेष' पदार्थ की कल्पना की गई प्रतीत होती है। परन्तु बाद में यह मान लिया गया कि परमाणु के अतिरिक्त अन्य नित्य पदार्थों का भी, जैसे काल, दिक्, आकाश और आत्मा आदि अवयवरहित विभु नित्य पदार्थों का और अनन्त मनस् नामक पदार्थों का भी परस्पर भेदक 'विशेष' पदार्थ ही है। अनन्त परमाणुओं, अनन्त मनों और अनन्त आत्माओं के भेदक 'विशेष' भी अनन्त ही हैं। और जब 'विशेष' अनन्त हैं, तब यह स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठा कि उन 'विशेषों' का परस्पर भेद कैसे होता है। उसके उत्तर में यही कहा गया कि उन विशेषों का परस्पर भेद स्वतः ही हो

जाता है क्योंकि विशेषों का भेद करने के लिए भी यदि दूसरे विशेष माने जाएं तो अनवस्था दोष हो जाएगा।

<u>समवाय</u> :— न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने जब एक वस्तु के रूप में प्रतीत होने वाले 'धर्म' और 'धर्मी' को अलग कर दिया और उनको तत्त्वतः अलग अलग पदार्थ माना, तो दूसरे दार्शनिक सम्प्रदायों विशेषकर बौद्धों की ओर से यह प्रश्न हुआ कि यदि धर्मी और धर्म अर्थात् द्रव्य और गुण आदि तत्त्वतः अलग अलग हैं, तो वे कभी अलग अलग भी पाए जाने चाहियें क्योंकि अलग अलग दो पदार्थ यदि संयोग सम्बन्ध से जुड़े हों तो वे कभी कभी अलग भी हो सकते हैं। परन्तु द्रव्य और गुण सर्वदा एक साथ ही पाये जाते हैं। इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक के 'समवाय' सिद्धान्त में पाया जाता है। 'समवाय' वह सम्बन्ध है जो ऐसे दो पदार्थों में होता है जिनमें से एक दूसरे के विना कदापि न पाया जावे। जैसे कि द्रव्य और गुण में से गुण द्रव्य के विना कदापि नहीं पाये जाते। इसलिये उनका सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध होता है। समवाय सम्बन्ध 'संयोग' सम्बन्ध से भिन्न है क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में होता है जो कि परस्पर अलग-अलग भी हो सकते हों। परन्तु समवाय, जो कि ऐसे दो पदार्थों में रहता है जिन में से एक दूसरे से अलग न रह सकता हो[1], न्याय-वैशेषिक की एक विशेष पदार्थ कल्पना है, क्योंकि समवाय को न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा के सिवाय अन्य कोई दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं मानता। समवाय पाँच स्थानों पर पाया जाता है, अर्थात् (i) द्रव्य में गुण, (ii) द्रव्य में कर्म, (iii) द्रव्य, गुण या कर्म व्यक्तियों में जाति, (iv) नित्य पदार्थों में विशेष, तथा (v) अवयवों में अवयवी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। यह स्पष्ट है कि द्रव्य में न केवल गुण, कर्म, सामान्य और विशेष, ये चार पदार्थ

---

1 ऐसे दो पदार्थों को जिन में से एक ऐसा हो जो दूसरे के विना न रह सकता हो न्याय-वैशेषिक के पारिभाषिक शब्दों में 'अयुतसिद्ध' कहते हैं और यह माना जाता है कि अयुतसिद्धों का सम्बन्ध 'समवाय सम्बन्ध' है।

समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अपितु अवयवों में अवयवी के रूप में द्रव्य में द्रव्य भी समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार द्रव्य में पाँचों पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, परन्तु गुण, कर्म में केवल जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। ऊपर कहा गया है कि कणाद ने द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन की ही बाह्य सत्ता (objective reality) स्वीकार की थी और इन्हीं में सत्ता जाति मानी। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्ता जाति उन्हीं पदार्थों में मानी गई, जिनमें कोई धर्म समवाय सम्बन्ध से रह सकता हो, क्योंकि सामान्य, विशेष और समवाय इन पिछले तीन पदार्थों में कोई भी धर्म समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वे ऐसे पदार्थ हैं कि जिन में कोई भी बाह्य अस्तित्व रखने वाला धर्म नहीं रहता। यह भी ध्यान देने योग्य है कि समवाय एक ही पदार्थ माना गया है, जो कि नित्य है और सारे विश्व में सब जगह धर्म और धर्मियों को जोड़ देता है। इस प्रकार 'रूप का समवाय' और 'स्पर्श का समवाय' दोनों एक ही वस्तु हैं और यह कहा जा सकता है कि वायु में भी रूप का समवाय विद्यमान है, फिर वायु में रूप की प्रतीति क्यों नहीं होती, इसका उत्तर यही है कि वायु में 'रूप का समवाय' होने पर भी 'रूप' नहीं है, इसलिये रूप की प्रतीति नहीं होती।

७— सातवां अभाव नामक पदार्थ

कणाद और प्रशस्तपाद ने केवल छै ही पदार्थ माने थे परन्तु पिछले ः १०वीं शताब्दी के लगभग अभाव नामक सातवां पदार्थ भी न्याय-ेक सम्प्रदाय में माना गया। अभाव को पदार्थ मानने का अर्थ यह के अभाव का भी बाह्य जगत् में वस्तुसत्त्व (objective reality) ्। वह शशशृङ्ग के समान सर्वथा असत् 'तुच्छ' पदार्थ नहीं है। भारतीय दर्शन में सर्वथा असत् (unreal, non-existent) को 'तुच्छ' कहा जाता है, जिसके उदाहरण शशशृङ्ग और आकाशपुष्प हैं, जो सर्वथा असत् हैं। परन्तु भूतल में घटाभाव न्याय-वैशेषिक के मत

में यद्यपि निषेधात्मक अर्थात् अभावात्मक पदार्थ है तथापि वह सर्वथा असत् नहीं है।

अभावों के दो प्रकार : अभाव प्रथमतः दो प्रकार के माने गये हैं (i) संसर्गाभाव जिसका अर्थ है कि संसर्ग अर्थात् किसी सम्बन्ध से एक वस्तु में दूसरी वस्तु के रहने का अभाव, जैसे संयोग सम्बन्ध से भूतल में घट के रहने का अभाव और (ii) दूसरा अन्योन्याभाव जिसका अर्थ यह है कि 'तादात्म्य' (relation of identity) से एक वस्तु का दूसरी में अभाव जैसे कि 'घट पट नहीं है' इसका अर्थ यह है कि घट और पट का तादात्म्य नहीं है। वे दोनों वस्तु अलग अलग हैं अर्थात् तादात्म्य से घट पट में नहीं है और पट घट में नहीं है। व्यावहारिक भाषा में 'अन्योन्याभाव' के लिये ही 'भेद' शब्द आता है और यह कहा जाता है कि घट और पट का भेद है। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है और उसके कोई भेद नहीं होते।

संसर्गाभाव निम्नलिखित तीन प्रकार का होता है :—

(i) *प्रागभाव* : न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तुरूप अवयवों में जब पट अवयवी उत्पन्न होता है तो वह तन्तुओं से भिन्न एक पदार्थ माना जाता है। उत्पन्न होने से पूर्व तन्तुओं में पट नहीं होता क्योंकि तन्तुओं में पट समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसलिये तन्तुओं में पट के अभाव का भी अर्थ यही है कि तन्तुओं में पट समवाय सम्बन्ध से नहीं है। इसी समवायिकारण में कार्य के अभाव को अर्थात् तन्तुओं में पट के अभाव को '*प्रागभाव*' कहते हैं। यह स्पष्ट है कि यह प्रागभाव अनादि है क्योंकि तन्तुओं में पट कभी भी न था, परन्तु पट के उत्पन्न होने पर यह अभाव नष्ट हो जाता है, इसलिये यह 'सान्त' है, इस प्रकार यह अभाव '*अनादि और सान्त*' है।

(ii) *ध्वंसाभाव* : तन्तुओं में उत्पन्न होने के बाद पट के नष्ट होने पर तन्तुओं में पट का अभाव '*ध्वंसाभाव*' कहलाता है और यह अभाव एक

बार उत्पन्न होकर सदा के लिये हो जाता है। इसलिये इस अभाव को *'सादि और अनन्त'* कह सकते हैं।

(iii) *अत्यन्ताभाव* : भूतल में घट के अभाव को अथवा वायु में रूप के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। भूतल में घट के अभाव का अर्थ यह है कि भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट नहीं रहता और वायु में रूप के अभाव का अर्थ यह है कि वायु में समवाय सम्बन्ध से रूप नहीं रहता। अत्यन्ताभाव को नित्य अभाव माना जाता है। वायु में रूप का अभाव नित्य अभाव है यह तो स्पष्ट ही है परन्तु भूतल में घटाभाव जो कि घट के हटाने से उत्पन्न होता है और पुनः घट के ले आने से नष्ट हो जाता है, नित्य अभाव कैसे हो सकता है ? इस विषय में न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त यह है कि भूतल में घटाभाव भी नित्य ही अभाव है, जो कि भूतल में सर्वदा रहता है, परन्तु घट के हटा लेने के समय में ही भूतल से उस अभाव का सम्बन्ध होता है और घट के पुनः ले आने पर घटाभाव का भूतल से सम्बन्ध नहीं रहता। यह कल्पना इसलिये की गयी है कि यदि घटाभाव को अनित्य माना जाय तो उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले अनन्त अभावों की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये नवीन न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय भूतल में घटाभाव को नित्य अभाव मानता है यद्यपि प्राचीन लोगों ने इस प्रकार के अभाव को अनित्य ही माना था और वे नित्य अत्यन्ताभाव 'वायु में रूपाभाव' जैसे स्थल में मानते थे।

८— *नौ प्रकार के द्रव्य*

न्याय-वैशेषिक के माने हुये सात पदार्थों में से अभाव पदार्थ पीछे से जुड़ा, यह कहा गया है। कणाद ने केवल छै पदार्थ माने थे। उनमें से भी कणाद के अनुसार बाह्य अस्तित्व (objective reality) प्रथम तीन अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म की थी। शेष सामान्य आदि तीन पदार्थों का बाह्यरूपेण अस्तित्व प्रशस्तपाद ने स्थापित किया। पिछले चार पदार्थों अर्थात् सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव का आवश्यक निरूपण ऊपर किया जा चुका है। पहिले तीन पदार्थों में से कर्म पांच

प्रकार के माने गये हैं :— (i) उत्क्षेपण— ऊपर फेंकना, (ii) अवक्षेपण— नीचे फेंकना या गिराना, (iii) आकुञ्चन— सिकोड़ना, (iv) प्रसारण— फैलाना और (v) गमन, जिसके अन्दर और प्रकार के कर्म भी आ जाते हैं। कर्मों को छोड़कर बाकी शेष दो पदार्थ द्रव्य और गुण का और उनके विभागों का न्याय-वैशेषिक में विशेष रूप से वर्णन किया जाता है।

द्रव्य नौ प्रकार के हैं जिनमें से पहिले चार अर्थात् पृथिवी, जल अग्नि और वायु भौतिक द्रव्य (material substances) कहे जा सकते हैं। यह चारों द्रव्य अणु वाले द्रव्य हैं जिनसे संसार के सारे 'कार्य द्रव्य' बने हुये हैं; यह कुछ आश्चर्य की बात है कि न्याय-वैशेषिक में इन चारों द्रव्यों के लिये कोई अलग शब्द नहीं आता, यद्यपि इन चारों के अणुयुक्त होने के कारण उनका स्वरूप अन्य द्रव्यों से सर्वथा भिन्न है। शेष पाँच द्रव्य आकाश, काल, दिक् आत्मा और मनस् हैं। इनमें मनस् को छोड़कर शेष आकाश आदि चार द्रव्य नित्य और विभु अर्थात् सर्वव्यापक हैं। इन चार में से भी पहिले तीन अर्थात् 'आकाश' 'काल' और 'दिक्' एक एक ही हैं। परन्तु आत्मा अनन्त हैं और उनमें से प्रत्येक सर्वव्यापक अर्थात् विभु है। ईश्वर भी कोई अलग पदार्थ नहीं है प्रत्युत आत्माओं में से ही एक विशेष प्रकार का आत्मा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैशेषिक सम्प्रदाय में मूलतः ईश्वर के लिये कोई स्थान न था, परन्तु जब सम्मिलित न्याय-वैशेषिक ने ईश्वर को माना तो आत्मा के अन्दर ही ईश्वर को जोड़ दिया गया। मनस् भी आत्माओं के समान अनन्त हैं परन्तु वे सर्वव्यापक नहीं प्रत्युत अणु परिमाण वाले हैं। नौ द्रव्यों में से चार द्रव्य अर्थात् आकाश, काल, दिक् और आत्मा विभु परिमाण वाले हैं किन्तु शेष पाँच अर्थात् चार पृथिवी आदि अणु वाले द्रव्य, तथा मनस् विभु परिमाण वाले नहीं।

<u>आकाश, काल और दिक्</u> : नौ द्रव्यों में से चार पृथ्वी आदि अणु वाले द्रव्यों का तथा आत्मा और मनस् इन दोनों द्रव्यों का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट है; परन्तु आकाश, काल और दिक् का सम्प्रदाय में माना हुआ स्वरूप समझना आवश्यक है। आकाश को केवल शब्द के समवायिकारण

के रूप में एक विभु पदार्थ माना गया है। शब्द की समवायिकारणता के अतिरिक्त और उसका कुछ भी काम नहीं। प्रायः आकाश को पृथिवी आदि अणु वाले चार द्रव्यों के साथ जोड़कर पाँचों को भूत या महाभूत माना जाता है। परन्तु यह पाँच महाभूतों की कल्पना उपनिषदों के समय की अत्यन्त प्राचीन कल्पना है जिसके अनुसार यह माना जाता था कि यह विश्व और इसके सब पदार्थ पाँच महाभूतों के बने हुए हैं। इसीलिये शरीर को भी पाञ्चभौतिक कहा जाता है और इसीलिये शरीर के नाश का नाम भी 'पञ्चत्व' अर्थात् पाँचों भूतों का अलग अलग हो जाना है। परन्तु यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में पाँच भूतों की इस प्रकार की कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है। न्याय-वैशेषिक में आकाश को भूत कहना भी कदाचित् ठीक न होगा, यदि भूत शब्द का प्रयोग पाश्चात्य विज्ञान में माने हुये मैटर (matter) के अर्थ में किया जाय। हमारे दर्शन शास्त्र के अनुसार 'मैटर' के लिये 'भूत' और (material) के लिये 'भौतिक' शब्द ही आ सकता है क्योंकि 'मैटर' का अर्थ यह है कि जो इस जगत् का उपादानकारण (material cause) हो; और उपनिषदों में पाँचों भूतों को जगत् का उपादानकारण माना गया था और आकाश को भी ऐसा तत्त्व या भूत माना था जो शेष अन्य चार भूतों के साथ २ जगत् का उपादानकारण है। परन्तु न्याय-वैशेषिक का आकाश उस प्रकार का तत्त्व नहीं है वह तो केवल शब्द का समवायिकारण है और एक है, उससे कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, इसलिये न्याय-वैशेषिक में 'पाँच भूतों' को केवल प्राचीन ग्रन्थों के कारण ही माना गया है। पाँच भूतों में रहने वाली कोई 'भूतत्व' जाति भी नहीं मानी जाती। न्याय-वैशेषिक में कदाचित् आकाश को 'भूत' इसलिये कहा जा सकता है कि पाँच इन्द्रियों में से चार इन्द्रियें पृथिवी आदि अणु वाले चार द्रव्यों से सम्बन्ध रखती हैं और पाँचवीं इन्द्रिय श्रोत्र आकाश से सम्बन्ध रखती है।

काल (time) और दिक् (space) दो अलग द्रव्य माने गये हैं

जो कि मानसज्ञान में अस्तित्व रखने वाले ही पदार्थ नहीं हैं अपितु बाह्य जगत् में अस्तित्व रखने वाले द्रव्य हैं। दिक् को इसलिये माना जाता है कि एक मनुष्य को पास की वस्तु में देश की दृष्टि से उरला होने (दैशिक अपरत्व की) बुद्धि होती है, और दूर की वस्तु में परला होने की (दैशिक परत्व) की बुद्धि होती है। दैशिक अपरत्व (उरलेपन) का अर्थ यह है कि मनुष्य और दैशिक दृष्टि से अपर वस्तु में, पर वस्तु की अपेक्षा अन्तर्वर्ती प्रदेशों के संयोग अल्पतर हैं, और पर वस्तु में अपर वस्तु की अपेक्षा अन्तर्वर्ती संयोग अधिकतर हैं। इस प्रकार की 'परत्व' और 'अपरत्व' बुद्धि का कारण दिक् ही है। इसी को कुछ अधिक स्पष्ट रूप से गुण-प्रकरण में (जहाँ दैशिक परत्व और अपरत्व का निरूपण किया गया है) समझाया गया है। इसी प्रकार काल सम्बन्धी परत्व और अपरत्व की बुद्धि होती है। एक वृद्ध मनुष्य की अपेक्षा एक युवक में कालिक अपरत्व की बुद्धि होती है, उसका अर्थ यही है कि सूर्य की गति अथवा किसी समय मापने के यन्त्र की गति से मनुष्य का सम्बन्ध है। जिसका अपेक्षया न्यूनतर गति से सम्बन्ध है उसमें अपरत्व बुद्धि और जिसका अपेक्षया अधिकतर सूर्य की गति से सम्बन्ध है उसमें परत्व की बुद्धि होती है। परन्तु सूर्य की गति तो सूर्य में रहती है, उसका किसी मनुष्य से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसी सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये काल नामक सर्वव्यापक द्रव्य की कल्पना की जाती है। इसी बात को कालिक परत्व और अपरत्व के प्रकरण में और अधिक स्पष्ट किया गया है।

पृथिवी आदि चार अणु वाले भौतिक द्रव्य दो रूपों में पाये जाते हैं। एक तो अणुओं के रूप में जो कि नित्य हैं और द्वितीय अणुओं से बने कार्य द्रव्य के रूप में जो कि अनित्य हैं। कारणरूप अणुओं से कार्य द्रव्य किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, इसको समझने के लिये आवश्यक है कि न्याय-वैशेषिक के कारणवाद पर विचार किया जाय।

६— *न्याय-वैशेषिक का सत्कार्यवाद*

प्रथम भाग परिच्छेद २६ में वेदान्त के अन्तर्गत शंकर के अद्वैतवाद

का वर्णन करते हुये भारतीय दर्शनों के कारणवाद पर तुलनात्मक विचार किया जा चुका है। उसको ध्यान में रखते हुये यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार कार्य अपने कारण से सर्वथा भिन्न होता है। सत्कार्यवादी सांख्य के अनुसार कारण और कार्य, उदाहरणार्थ, तन्तु और पट का तादात्म्य है, अर्थात् तन्तु ही बदलकर पट की अवस्था में आ जाते हैं। पट तन्तुओं से भिन्न कोई नवीन वस्तु नहीं। परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तुओं से उत्पन्न होने वाला पट तन्तुओं से भिन्न सर्वथा एक नई वस्तु है। तन्तु और पट दोनों का तत्त्व (essence) अलग अलग है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तु ही बदल कर पट के रूप में नहीं आ जाते, प्रत्युत तन्तु तो पहिले के समान, पट के उत्पन्न होने पर भी, ज्यों के त्यों बने रहते हैं किन्तु तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला 'पट' नामक एक नया द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। यदि वस्तुतः देखा जाय तो न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्तुओं से (out of threads) पट उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत तन्तुओं में (in the threads) पट उत्पन्न होता है। इस प्रकार तन्तु और पट सर्वथा दो अलग वस्तु हैं। न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त मनुष्य की सामान्य बुद्धि के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। सांख्य के परिणामवाद के अनुसार पट कोई नयी वस्तु नहीं है, प्रत्युत अव्यक्त (unmanifested) अवस्था में 'पट' तन्तुओं में पहिले से ही विद्यमान था, तथा तन्तु और पट का तत्त्व (essence) एक ही है। इस प्रकार का सिद्धान्त मनुष्य की सामान्य बुद्धि के अधिक अनुकूल है परन्तु ध्यान से देखने से पता लगेगा कि बाह्यार्थवाद की रक्षा की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त कि पट तन्तु से सर्वथा भिन्न है, आवश्यक है; क्योंकि यदि सांख्य के अनुसार तन्तु और पट को तत्त्वतः एक ही मान लिया जाय तो स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि यदि तन्तु और पट सर्वथा एक ही है तो पट में नये धर्म कहाँ से आ गये। तन्तु पट के रूप में बदल गये, इस वाक्य में 'बदलने' का क्या अर्थ है? जब तन्तु और पट का तत्त्व एक ही है तो यह

मानना पड़ेगा कि तन्तु ज्यों के त्यों बने रहे, और उन में किसी प्रकार का परिवर्तन समझ में नहीं आ सकता। इस प्रकार सांख्य के सत्कार्यवाद से आवश्यकरूपेण वेदान्त के विवर्तवाद तक पहुँचते हैं जिस के अनुसार कार्य का वास्तविक तत्त्व (real essence) कारण ही है, और कारण के अतिरिक्त कार्य में जो नये धर्म दीखते हैं वे केवल भ्रम मात्र हैं। जिस प्रकार 'रस्सी में सर्प के भ्रम' के स्थल पर रस्सी बदलकर सर्प नहीं हो जाती, केवल रस्सी में जो कि पूर्व के समान ही रहती है, सर्प का भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार यदि तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो तन्तु ही बदलकर पट नहीं हो जाते प्रत्युत तन्तु अपने तन्तु के रूप में ही रहते हैं और पट का उनमें केवल भ्रम होता है। इसी प्रकार मूल कारण तक पहुँचने पर यह मानना पड़ता है कि मूल कारण ब्रह्म अपने यथार्थ-रूप में ही बना रहता है, केवल उसमें जगत् का भ्रममात्र होता है। इस प्रकार यदि कार्य और कारण को एक माना जाय तो निश्चित रूप से कार्य को भ्रममात्र ही मानना होगा। और इस प्रकार बाह्य जगत् का अस्तित्व ही मिट जायगा। इसलिये बाह्यार्थवाद की रक्षा को लक्ष्य में रखकर न्याय-वैशेषिक दृढतापूर्वक कारण से कार्य को, उदाहरणार्थ तन्तु से पट को, भिन्न मानता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि तन्तु और पट दो भिन्न-भिन्न वस्तु तो दीखती नहीं, तो न्याय-वैशेषिक का उत्तर है कि समवाय सम्बन्ध के द्वारा वस्तुतः दो भिन्न वस्तु भी एक ही प्रतीत होने लगती हैं। इसलिये न्याय-वैशेषिक यह मानता है कि कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होकर रहता है। इस प्रकार 'तन्तु' और 'पट' दो भिन्न वस्तु हैं, जिनमें से 'तन्तु' कारण हैं और 'पट' कार्य उनमें समवाय संबन्ध से रहता है। उत्पन्न होने से पूर्व 'पट' अर्थात् कार्य सर्वथा असत् था, इसीलिये इस सिद्धान्त को '*असत्कार्यवाद*' कहते हैं। और क्योंकि कार्य पट सर्वथा एक नई वस्तु के रूप में, जिसका तत्त्व (essence) कारण तन्तु के तत्त्व से सर्वथा भिन्न है उत्पन्न होता है, इसीलिये इस सिद्धान्त को '*आरम्भवाद*' भी कहते हैं। और यह भी स्पष्ट है कि कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न

होकर रहता है, इसलिये कारण को न्याय-वैशेषिक के मत में समवायिकारण कहते हैं। सांख्य के मत में पट के तन्तु उपादानकारण (material cause) हैं; परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार समवायिकारण के लिये उपादानकारण शब्द का प्रयोग कुछ अधिक ठीक प्रतीत नहीं होता, यद्यपि यह प्रयोग किया जाता है।

१०— अवयव और अवयवी का भेद

न्याय-वैशेषिक के कारणवाद का आधार है, अवयव और अवयवी का सिद्धान्त जिसके अनुसार अवयवी पट तन्तुओं का समूह मात्र नहीं है, प्रत्युत तन्तुओं से भिन्न सर्वथा एक नई वस्तु है। न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त पर सभी अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों ने, अर्थात् सांख्य, वेदान्त और बौद्ध ने, आक्षेप किया। परन्तु यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक का कारणवाद ही इस 'अवयव-अवयवी के भेद' सिद्धान्त पर निर्भर है। कारणरूप तन्तु अवयव हैं जिनमें पट नामक कार्य अवयवी के रूप में होता है, और यह अवयवी अपने अवयवों से सर्वथा भिन्न वस्तु है अर्थात् कार्य कारण से सर्वथा भिन्न वस्तु है।

११— तीन प्रकार के कारण

ऊपर जिस कारण के बारे में विचार हुआ है, वह समवायिकारण है। न्याय-वैशेषिक के मत में कारण तीन प्रकार के होते हैं (i) समवायिकारण, (ii) असमवायिकारण, और (iii) निमित्तकारण। न्याय-वैशेषिक के मत में सामान्य, विशेष, समवाय, ये तीन नित्य पदार्थ हैं, उनके कारणों का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अभाव नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं, उनमें से अनित्य अभावों का केवल निमित्तकारण होता है। शेष द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ, जैसा कि ऊपर कहा गया, तत्त्वतः अलग-अलग पदार्थ हैं अतएव उनके कारण भी अलग-अलग ही होते हैं। उदाहरणार्थ न्याय-वैशेषिक के मत में 'पट' और 'पटरूप' दो अलग अलग वस्तु हैं, उन दोनों के कारण भी अलग अलग होते हैं। पट का समवायिकारण तन्तु है, जिसमें पट एक नयी वस्तु के रूप में अर्थात् नये

'अवयवी' द्रव्य के रूप में उत्पन्न होता है, यह ऊपर बताया जा चुका है। परन्तु 'पटरूप' का समवायिकारण क्या है ? पटरूप पट द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है अर्थात् पटरूप का पट समवायी है, और न्याय-वैशेषिक पट को ही पटरूप का समवायिकारण मानता है। इस प्रकार प्रत्येक अनित्य द्रव्य अपने गुणों का समवायिकारण है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि 'पट' और 'पटरूप' तो एक साथ ही उत्पन्न होते हैं और कारण को कार्य से पहिले होना चाहिये। ऐसी दशा में 'पट' 'पटरूप' का कारण किस प्रकार हो सकता है। इसके उत्तर में न्याय-वैशेषिक यह मानने के लिये बाध्य होता है कि 'पटरूप' 'पट' का कार्य होने से 'पट' की उत्पत्ति के एक क्षण बाद उत्पन्न होता है ; अर्थात् उत्पन्न होने के पहले क्षण में 'पट' विना गुणों के ही होता है। रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि गुणों से रहित पट किस प्रकार का होगा, यह बात समझ में आनी कठिन है। परन्तु न्याय-वैशेषिक का उत्तर है कि पट का अस्तित्व विना गुणों के केवल एक ही क्षण के लिये माना गया है, इसलिये उसमें कोई व्यावहारिक कठिनता नहीं आ सकती। दूसरा कारण असमवायिकारण है। पट के समवायिकरण तन्तु हैं और तन्तुओं का संयोग असमवायिकारण माना जाता है। असमवायिकारण उसे कहते हैं जो समवायिकारण में अपने कार्य के साथ रहता हो। 'तन्तु' में 'तन्तुसंयोग' भी रहते हैं और तन्तुसंयोग का कार्य 'पट' भी तन्तुओं में ही रहता है। 'पटरूप' का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' को माना गया है। यहाँ पर तन्तुरूप यद्यपि अपने कार्य 'पटरूप' के समवायिकारण 'पट' में नहीं रहता, किन्तु समवायिकारण के समवायिकारण में रहता है, क्योंकि पटरूप का समवायिकारण पट है और उस पट के समवायिकारण 'तन्तु' में तन्तुरूप रहता है।

समवायिकारण और असमवायिकारण को छोड़कर शेष सब कारण निमित्तकारण कहलाते हैं, उदाहरणार्थ जुलाहा और करघे आदि सारे यन्त्र जिनसे पट बनता है, निमित्तकारण कहलायेंगे। निमित्तकारण का लक्षण यह किया गया है कि समवायिकारण और असमवायिकारण के अतिरिक्त

जितने भी अन्य कारण हैं, वे सब निमित्तकारण हैं।

१२— वैशेषिक का परमाणुवाद

जैसा कि ऊपर पृ० १०७–८ पर कहा गया है परमाणुवाद वैशेषिक का एक विशेष सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थ के अवयव उसके समवायिकारण हैं और उन अवयवों के भी अवयव पहिले अवयवों के समवायिकारण हैं। इस प्रकार अवयवों के अवयव फिर उनके अवयवों की धारा यदि लगातार चलती रहे और कहीं भी उसकी समाप्ति न हो तो प्रत्येक वस्तु के अनन्त अवयव होंगे और उस प्रकार सरसों का दाना और मेरु पहाड़ उन दोनों के ही अनन्त अवयव होंगे। और जब दोनों के अवयव समान रूप से अनन्त हैं, तो उनका परिमाण भी एक सा ही होना चाहिये क्योंकि परिमाण की न्यूनता और अधिकता अवयवों की न्यूनता और अधिकता पर निर्भर होती है, इसलिये आवश्यक रूप से यह मानना पड़ेगा कि अवयव धारा कहीं पर समाप्त हो जाती है और जहाँ वह समाप्त हो जाती है, उन्हीं को अणु या परमाणु कहते हैं[1]। इस प्रकार 'मेरु सर्षप के परिमाण का साम्य प्रसङ्ग', यह परमाणुवाद की सिद्धि में मूल युक्ति है।

दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक बनता है, उसका परिमाण भी अणु के समान ही 'अणुपरिमाण' होता है अर्थात् दो अणुओं के मिलने पर भी परिमाण में कोई अन्तर नहीं आता। तीन द्व्यणुकों के मिलने से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है अर्थात् एक त्र्यणुक में छै परमाणु होते हैं। त्र्यणुक में 'अणुपरिमाण' के स्थान पर 'महत्परिमाण' आ जाता है, जिसका अर्थ यह है कि उसमें लम्बाई चौड़ाई का अनुभव किया जा सकता है। अणु में महत्परिमाण किस प्रकार आ गया? क्योंकि कार्य का परिमाण कारण के परिमाण के सदृश ही होता है और अणु से उत्पन्न होने वाले द्व्यणुक का परिमाण जिस प्रकार अणु के समान ही रहा उसी प्रकार

---

1 *यह ध्यान रखना चाहिये कि न्याय-वैशेषिक में अणु और परमाणु में कोई अन्तर नहीं किया जाता; अर्थात् दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।*

त्र्यणुक का भी होना चाहिये। इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक यह देता है कि द्व्यणुक और त्र्यणुक का परिमाण अपने कारण से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत कारण की संख्या से उत्पन्न होता है अर्थात् द्व्यणुक का परिमाण अपने कारण दो अणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या से आता है। इसी प्रकार त्र्यणुक का परिमाण अपने कारण तीन द्व्यणुकों की त्रित्व संख्या से आता है। यह माना गया है कि बहुत्व संख्या महत्परिमाण को उत्पन्न करती है। द्व्यणुकों में रहने वाली तीन संख्या बहुत्व संख्या है, अतः त्र्यणुक का परिमाण महत्परिमाण हो जाता है। परन्तु दो अणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या बहुत्व संख्या नहीं है इसलिये द्व्यणुक का परिमाण महत्परिमाण नहीं होता, प्रत्युत वह अणु परिमाण ही रहता है। त्र्यणुक में महत्परिमाण उत्पन्न होने के बाद उसके आगे के कार्यों का परिमाण अपने अपने कारणों के परिमाण से ही आता है; क्योंकि एक बार महत्परिमाण उत्पन्न होने के बाद उससे आगे अधिक बड़ा अर्थात् महत्तर परिमाण उत्पन्न हो सकता है क्योंकि छोटे और बड़े महत्परिमाण एक ही प्रकार के होते हैं। परन्तु प्रारम्भ में अणु के परिमाण से महत्परिमाण के उत्पन्न होने में एक नये प्रकार के परिमाण के उत्पन्न होने की समस्या थी, और कारण के परिमाण से कार्य का परिमाण उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता था; इसलिये कारण की संख्या से कार्य का परिमाण उत्पन्न होता है, यह कल्पना की गई जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। दो अणुओं से द्व्यणुक का उत्पन्न होना और फिर तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक उत्पन्न होना, जिसमें महत्परिमाण आ जाता है, यह कल्पना रेखागणित की उस कल्पना से मिलती जुलती सी प्रतीत होती है, जिसके अनुसार बिन्दु को लम्बाई और चौड़ाई अर्थात् परिमाण से रहित माना जाता है और दो या अधिक बिन्दुओं से बनी रेखा में लम्बाई आ जाती है परन्तु चौड़ाई न होने से उसका परिमाण कुछ भी नहीं होता, परन्तु तीन या अधिक रेखाओं से बना हुआ क्षेत्र लम्बाई-चौड़ाई या परिमाण से युक्त होता है।

१३— चौबीस गुण

आधुनिक न्याय-वैशेषिक में माने २४ गुणों में से १७ कणाद ने बताये और शेष ७ प्रशस्तपाद ने वैशेषिक शास्त्र में जोड़े। कणाद के १७ गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार पृथिवी आदि चार अणुद्रव्यों के विशेष गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व ये सामान्य गुण हैं अर्थात् अनेक द्रव्यों में पाये जाते हैं। इनमें से परत्व और अपरत्व को छोड़कर बाकी संख्या आदि पाँच गुण ऐसे हैं जो कि प्रत्येक द्रव्य में पाये जाते हैं। ज्ञान (बुद्धि), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये छै गुण आत्मा के विशेष गुण हैं। इसके बाद प्रशस्तपाद द्वारा सात गुण— गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म और अधर्म तथा शब्द— जोड़े गये, जिनमें से 'गुरुत्व' (भार) पृथिवी और जल में रहता है, 'द्रवत्व' स्वाभाविक रूप से जल में और नैमित्तिक रूप से पृथिवी और तेजस् में रहता है; 'स्नेह' जल में रहता है; 'संस्कार' तीन प्रकार का है, अर्थात् वेग, स्थितिस्थापक और भावना, जिनमें से (१) वेग पृथिवी आदि चार अणुद्रव्यों में और मनस् में, तथा (२) स्थितिस्थापक गुण (जिसके कारण चटाई आदि कोई वस्तु अपनी पहिली स्थिति में आ जाती है) केवल पृथिवी में रहता है और (३) भावना (जिसके द्वारा किसी अनुभव की फिर स्मृति होती है) आत्मा में रहता है; और शब्द आकाश में रहता है।

इन गुणों के स्वरूप पर विशेष रूप से ध्यान देने पर पता लगता है कि पृथिवी, जल, तेजस् और वायु इन चार अणुद्रव्यों के क्रमशः विशेष गुण गन्ध, रस, रूप और स्पर्श; तथा आकाश नामक पाँचवें 'भूत' का विशेष गुण शब्द, ये क्रमशः घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। इस प्रकार पाँच भूतों में रहने वाले और अलग अलग पाँच इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले ये पाँच विशेष गुण कहलाते हैं। पृथिवी आदि चार अणुद्रव्यों में पहिला पहिला अगले के विशेष गुणों को भी रखता है अर्थात् पृथिवी में 'गन्ध' के सिवाय रस, रूप और

स्पर्श भी हैं, जल में 'रस' के सिवाय रूप और स्पर्श भी हैं, और तेजस् में रूप के सिवाय स्पर्श भी है, तथा वायु में केवल 'स्पर्श' ही विशेष गुण है।

सामान्य सात गुणों में से, जैसा कि ऊपर कहा गया है, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये प्रत्येक द्रव्य में रहते हैं। इनमें से संख्या एक से लेकर परार्द्ध पर्यन्त मानी जाती है। वस्तुतः परार्द्ध से आगे भी संख्या की कल्पना हो सकती है। 'एकत्व' संख्या पदार्थ में स्थिर रूप से रहती है। वह नित्य पदार्थों में नित्य और अनित्य पदार्थों में अनित्य मानी जाती है। परन्तु 'द्वित्व' और उससे आगे की संख्यायें अनित्य हैं और वे पदार्थों में स्थिर रूप से नहीं रहतीं। वे केवल तीन क्षण रहती हैं। वे बाह्य वस्तु में द्रष्टा की 'अपेक्षाबुद्धि' से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् किन्हीं दो या अधिक वस्तुओं में द्वित्व आदि संख्यायें स्थिर रूप से नहीं रहतीं। प्रत्युत उन वस्तुओं को मिलाकर 'दो' या अधिक वस्तुओं का साथ-साथ प्रत्यक्ष करने पर केवल तीन क्षण के लिये 'द्वित्व' आदि संख्यायें उत्पन्न होती हैं। 'यह पदार्थ एक है' और 'यह पदार्थ एक है' इस प्रकार दो 'एकत्वों' (एक संख्याओं) का साथ-साथ प्रत्यक्ष होना ही 'अपेक्षाबुद्धि' कहलाती है। इस 'अपेक्षाबुद्धि' से बाह्य पदार्थ में एक नया गुण बाह्यरूपेण अस्तित्व रखने वाला (external objective reality) 'द्वित्व' नामक पैदा हो जाता है। मनुष्य की साधारण बुद्धि (common sense) के अनुसार यह सोचा जा सकता है कि 'द्वित्व' आदि बाह्य वस्तु में वस्तुरूपेण अस्तित्व रखने वाले कोई गुण नहीं प्रत्युत वे द्रष्टा के मानस प्रत्यय (ज्ञान) ही हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में प्रत्येक वस्तु का, जो दीखती है, बाह्य जगत् में वस्तुरूप अस्तित्व (objective reality) आवश्यकरूपेण माना जाता है। इसलिये 'द्वित्व' बाह्यवस्तुरूपेण तीन क्षण के लिये उत्पन्न हो जाता है, ऐसी न्याय-वैशेषिक शास्त्र की कल्पना है। इसी प्रकार द्वित्व से आगे की अन्य संख्याओं के विषय में भी समझना चाहिये।

परिमाण चार प्रकार का माना गया है। अणुत्व (अणु परिमाण), महत्त्व (महत्परिमाण), ह्रस्वत्व (ह्रस्व परिमाण) और दीर्घत्व (दीर्घ

परिमाण)। इनमें से ह्रस्वत्व और दीर्घत्व नामक परिमाण अणुत्व और महत्त्व के साथ साथ रहते हैं अर्थात् जहाँ अणुत्व है वहीं ह्रस्वत्व और जहाँ महत्त्व है वहीं दीर्घत्व। इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से दो ही परिमाण हैं, अर्थात् अणुत्व और महत्त्व। इनमें से अणुपरिमाण (अणुत्व) केवल अणु और द्व्यणुक और मनस् में रहता है, और महत्परिमाण त्र्यणुक से लेकर प्रत्येक द्रव्य में जो हमारे अनुभव में आ सकता है, अर्थात् छोटे से छोटे दृश्यमान कण और बड़े-बड़े पहाड़ और लाखों मील लम्बे आकाश में स्थित चन्द्र सूर्य आदि पिण्डों में भी महत्परिमाण ही रहता है। परन्तु सर्वव्यापक आकाश, काल, दिक् और आत्मा में परममहत्परिमाण रहता है जिसको विभुपरिमाण भी कहते हैं। इस प्रकार जिस परिमाण का हमें परिच्छिन्न या सीमित रूप में अनुभव होता है, वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा, 'महत्परिमाण' कहलाता है। परन्तु जो विभु अपरिच्छिन्न अर्थात् सर्वव्यापक परिमाण है जिससे बड़ा कोई परिमाण हो ही नहीं सकता, उसे परममहत्परिमाण कहते हैं, जो आकाश आदि चार द्रव्यों में रहता है। महत्परिमाण और परम-महत्परिमाण दोनों के लिये भी एक साधारण शब्द 'महत्परिमाण' ही आता है। इसी प्रकार ऐसा छोटा परिमाण जो परिच्छिन्न होते हुये भी इतना छोटा है कि उससे छोटा सोचा ही नहीं जा सकता और जो हमारे अनुभव में भी नहीं आ सकता, उसे अणुपरिमाण कहते हैं, और जैसा कि ऊपर कहा गया, वह अणु, द्व्यणुक और मनस् में रहता है। परिच्छिन्न होने की दृष्टि से यदि (परम-महत्परिमाण को छोड़कर) केवल महत्परिमाण और अणुपरिमाण को साथ साथ लें तो दोनों के लिये 'मूर्त्त-परिमाण' शब्द आता है। अर्थात् 'अविभु' (विभु आकाश आदि में न रहने वाले) परिच्छिन्न परिमाणमात्र को 'मूर्त्त-परिमाण' (मूर्त्तत्व) कहा जाता है।

संख्या और परिमाण के सिवाय सब द्रव्यों में रहने वाला तीसरा गुण 'पृथक्त्व' है। प्रत्येक पदार्थ दूसरे से पृथक् प्रतीत होता है। अतएव

एक पदार्थ की दूसरे से पृथक्त्व प्रतीति का कारण प्रत्येक पदार्थ में रहने वाला 'पृथक्त्व' नामक गुण होना चाहिये। यह शङ्का हो सकती है कि यह काम अन्योन्याभाव से भी चल सकता है। क्योंकि 'अन्योन्याभाव' भी 'घट में पट का अभाव' अर्थात् 'घट और पट एक व्यक्ति नहीं' इस प्रकार प्रतीत होता है और एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् करता है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' से जो प्रतीति होती है वह 'अभावात्मक' है। यहाँ 'पृथक्त्व' गुण के द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के अलग होने की प्रतीति 'भावरूप' होती है इसलिये 'अन्योन्याभाव' से अतिरिक्त पृथक्त्व गुण मानना पड़ता है।

सब द्रव्यों में रहने वाले पाँच गुणों में से बाकी दो गुण 'संयोग' और 'विभाग' हैं। जिन दो द्रव्यों का— उदाहरणार्थ पुरुष और दण्ड का— संयोग होता है, उन दोनों द्रव्यों में *एक ही संयोग* एक साथ रहता है अर्थात् पुरुष और दण्ड में रहने वाला संयोग एक गुण है। दो विभु (सर्वव्यापक) द्रव्यों में, जैसे काल और दिक् में, (साधारणतया) संयोग नहीं माना जाता, परन्तु किसी परिछिन्न (मूर्त्त) द्रव्य का किसी विभु द्रव्य से भी संयोग हो सकता है। क्योंकि संयोग का स्वभाव ही है कि वह अव्याप्यवृत्ति गुण है अर्थात् जिन द्रव्यों का संयोग होता है वह उन द्रव्यों को पूर्णतया व्याप्त नहीं करता, प्रत्युत उसके एक देश में रहता है। इसलिये 'आकाश-दण्ड' का संयोग आकाश के एक देश में ही रहेगा न कि सम्पूर्ण आकाश में ; और उसी प्रकार दण्ड के भी एक ही देश में रहेगा। इसी प्रकार 'विभाग' भी ऐसा गुण है जो अकेला ही, स्वयं एक होता हुआ भी, दो द्रव्यों में साथ साथ रहता है। 'विभाग' 'संयोग' पूर्वक ही होता है, अर्थात् संयोग के बाद ही होता है क्योंकि जब तक पहिले संयोग न हो तब तक 'विभाग' सोचा ही नहीं जा सकता। यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि विभाग संयोग के 'अभाव' का नाम नहीं है प्रत्युत भावरूप एक स्वतन्त्र गुण है।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग

और विभाग ये पाँच ऐसे सामान्य गुण हैं जो सभी द्रव्यों में रहते हैं। इनके सिवाय 'परत्व' और 'अपरत्व' भी सामान्य गुण हैं जो अनेक द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु सब द्रव्यों में नहीं रहते। परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं : एक दैशिक (दिक् सम्बन्धी) 'परत्व' और 'अपरत्व' तथा दूसरा कालिक (काल सम्बन्धी)। ये दोनों प्रकार के परत्व और अपरत्व स्थिर रूप से किसी द्रव्य में नहीं रहते, प्रत्युत 'अपेक्षाबुद्धि' से किसी द्रव्य में उत्पन्न होते हैं और अपेक्षाबुद्धि के नाश से इनका नाश हो जाता है। इनमें से दैशिक परत्व और अपरत्व प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य में अर्थात् अणु और महत्परिमाण वाले सब द्रव्यों में रहता है। और कालिक परत्वापरत्व प्रत्येक 'जन्य' उत्पन्न हुये पदार्थ में रहता है। दैशिक परत्वापरत्व के उत्पन्न होने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है ; उदाहरणार्थ, 'पटना से लेकर काशी तक' बीच में मूर्त्त पदार्थों के संयोग कम होते हैं और अपेक्षया 'पटना से प्रयाग तक', बीच के मूर्त्त पदार्थों के
ग अधिक होंगे। इसलिये यह ज्ञान होता है कि 'पटना से प्रयाग,
अपेक्षा, मूर्त्त पदार्थों के अधिकतर संयोगों के व्यवधान से युक्त
ज्ञान अपेक्षाबुद्धि कहलाता है। इस अपेक्षाबुद्धि से प्रयाग में
क गुण उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार 'पटना से काशी,
अपेक्षा, अल्पतर मूर्त्त पदार्थों के संयोगों से व्यवहित है' इस
अपेक्षाबुद्धि से काशी में 'अपरत्व' नामक गुण उत्पन्न हो जाता
परन्तु अधिकतर और 'अल्पतर' मूर्त्त पदार्थों के संयोगों से व्यवहित होने का अर्थ यह है कि अधिकतर या अल्पतर संयोगों का सम्बन्ध प्रयाग और काशी से हो। वह सम्बन्ध साधारणतया सम्भव नहीं, इसलिये उसी सम्बन्ध को स्थापित करने वाला पदार्थ 'दिक्' है जो कि विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। ये परत्व और अपरत्व गुण अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'देवदत्त यज्ञदत्त की अपेक्षा बड़ा है' या 'यज्ञदत्त देवदत्त की अपेक्षा छोटा है' तो इसका अर्थ यह है कि देवदत्त में 'कालिक परत्व' गुण है और यज्ञदत्त में 'कालिक अपरत्व' गुण

है। यहाँ 'यज्ञदत्त की अपेक्षा देवदत्त का अधिकतर सूर्य के परिस्पन्दों (सूर्य की गति) से सम्बन्ध है' इस अपेक्षाबुद्धि से देवदत्त में 'कालिक परत्व', और 'देवदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त का न्यूनतर सूर्य की गति से सम्बन्ध है', इस अपेक्षाबुद्धि से यज्ञदत्त में 'कालिक अपरत्व' उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है कि सूर्य की गति तो सूर्य में रहती है, उस से यज्ञदत्त या देवदत्त का सम्बन्ध किस प्रकार होगा, इसका उत्तर यही है कि 'काल' पदार्थ ही इसलिये माना जाता है कि वह संसार के प्रत्येक पदार्थ का सूर्य के परिस्पन्दों (सूर्य की गति) से सम्बन्ध करा दे।

इससे आगे के छै गुण— ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, आत्मा के विशेष गुण हैं। ये छै गुण जीवात्मा में रहते हैं। ईश्वर भी एक विशेष प्रकार का आत्मा ही है। उसमें ज्ञान, इच्छा और यत्न ये तीन गुण माने जाते हैं, अर्थात् सुख, दुःख और द्वेष ये गुण नहीं माने जाते, क्योंकि स्पष्टतः ये जीव से ही सम्बन्ध रखते हैं। मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा में भी इन सभी विशेष गुणों का अभाव हो जाता है।

इन १७ गुणों के साथ प्रशस्तपाद द्वारा जोड़े हुये सात गुणों— गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म और अधर्म और शब्द— का स्वरूप और वे कहाँ कहाँ रहते हैं, यह पहिले ही बताया जा चुका है।

१४— ज्ञान के विभाग

आत्मा के इच्छा आदि छै विशेष गुणों में ज्ञान ही मुख्य है। उसका दर्शन-शास्त्र में, विशेषकर दर्शन-शास्त्र के ज्ञान-सिद्धान्त (epistemology) प्रकरण में, विशेष रूप से निरूपण किया जाता है। प्रथमतः ज्ञान दो प्रकार का है, एक 'अनुभव', और द्वितीय 'स्मृति'। अनुभव दो प्रकार का होता है; एक यथार्थ, द्वितीय अयथार्थ। यथार्थानुभव प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान और शब्द, इन चार प्रमाणों द्वारा होता है। 'जाने हुये का फिर से ज्ञान होना' ही स्मृति है (ज्ञातविषयकं ज्ञानं स्मृतिः, यह स्मृति का लक्षण किया गया है)। परन्तु अनुभव का लक्षण स्मृति के द्वारा किया

जाता है कि 'स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है'। इस प्रकार अनुभव का स्वरूपसूचक कोई लक्षण नहीं है; परन्तु मीमांसकों ने यह माना है कि 'नये ज्ञान का नाम ही अनुभव है' अर्थात् प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से हमको कोई नया ज्ञान उत्पन्न होता है, और स्मृति में कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत जाने हुये को ही फिर से जाना जाता है। नैयायिक अनुभव के इस लक्षण को कि 'वह नया ज्ञान है' स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके मत में यदि चक्षु से हम लगातार घट को देखते रहें तो घट का बार-बार ज्ञान होना, यद्यपि कोई नया ज्ञान न होगा तथापि वह अनुभव ही माना जायगा। चार प्रकार के अनुभवों में प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों से होने वाला अनुभव 'साक्षात्कारी अनुभव' कहलाता है क्योंकि इन्द्रियों से हमें जो ज्ञान होता है वह साक्षात् रूप से (directly) वस्तु का ज्ञान होता है। शेष तीन प्रमाणों से जो ज्ञान होता है, वह नया ज्ञान होने से स्मृति से भिन्न प्रकार का ज्ञान है परन्तु वह ज्ञान साक्षात् ज्ञान नहीं। इन चारों प्रमाणों में से प्रत्यक्ष प्रमाण दर्शन-शास्त्र के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। शेष तीन प्रमाणों में से अनुमान प्रमाण तर्कशास्त्र या Logic का विषय है। उपमान प्रमाण जो केवल न्याय-वैशेषिक में ही माना गया है वह भी अनुमान से ही मिलता जुलता है; तथा शब्द प्रमाण वाक्यविज्ञान से सम्बन्ध रखता है।

स्मृति के विषय में यह कहा गया है कि वह जाने हुये का फिर से ज्ञान है। प्रत्येक अनुभव के बाद उस अनुभव से उत्पन्न हुआ एक संस्कार हमारी आत्मा के अन्दर रह जाता है। यह संस्कार एक प्रकार से सुप्त अवस्था का ज्ञान है, परन्तु जब संस्कार को जगाने वाला कोई सहकारी मिलता है तो वह सुप्त संस्कार ही जाग्रत अवस्था में आकर स्मृति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार 'जाने हुये के पुनर्ज्ञान' को स्मृति कहते हैं।

१५— ज्ञान की यथार्थता

ऊपर यह कहा गया है कि अनुभव दो प्रकार का होता है एक यथार्थ और दूसरा अयथार्थ। अयथार्थ ज्ञान तीन प्रकार का माना जाता

है— (i) संशय, (ii) भ्रम, और (iii) तर्क। इनमें से भ्रम तो अयथार्थ है ही। संशयात्मक ज्ञान भी अयथार्थ माना जाता है क्योंकि उसमें एक निश्चित वस्तु में दो प्रकार की कोटि (अर्थात् 'यह खम्भा है या आदमी') होती हैं और तर्क में किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में ऊहापोह होने से अनिश्चय होता है इसलिये वह भी अयथार्थ ज्ञान है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार अनुभव यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। इसलिये जब हमें कोई अनुभव होता है तो अनुभव होने के साथ ही यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुभव यथार्थ है या अयथार्थ। उसकी यथार्थता अर्थात् प्रामाण्य अथवा अयथार्थता अर्थात् अप्रामाण्य दोनों का पता बाद में चलता है। यदि उस ज्ञान के बाद हमारी प्रवृत्ति समर्थ अर्थात् फलवती होती है, उदाहरणार्थ पानी के ज्ञान के उपरान्त यदि हमें प्यास बुझाने वाला पानी प्राप्त हो जाता है तो उस ज्ञान की यथार्थता का अनुमान हो जाता है अन्यथा अयथार्थता का। प्रत्यक्ष सब प्रमाणों में मुख्य है, यहाँ तक कि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध हो उसमें अनुमान करने वाला हेतु बाधित होता है, परन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अनुमान से स्थापित होता है। अनुभव के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतः और परतः होने के विषय में भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में परस्पर भिन्न भिन्न मत पाये जाते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परतः होते हैं, अर्थात् न तो ज्ञान के साथ उसका प्रामाण्य लगा है और न अप्रामाण्य, अपितु परतः अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय होता है। मीमांसक ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानता है अर्थात् ज्ञान अपने रूप में सदा यथार्थ ही होता है, उसकी अयथार्थता किसी विशेष कारण से ही सिद्ध होती है; (देखो प्रथम भाग परिच्छेद २५ : मीमांसा का ज्ञान सिद्धान्त)। इस प्रकार मीमांसक के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः है और अप्रामाण्य परतः। बौद्ध का सिद्धान्त मीमांसा के सिद्धान्त से ठीक

विपरीत है, उसके अनुसार ज्ञान स्वभावतः अप्रामाणिक और भ्रमपूर्ण होता है, उसकी यथार्थता बाद में सिद्ध होती है। यदि उससे अर्थक्रिया-कारी वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उसे हम यथार्थ कहते हैं अन्यथा अयथार्थ।[1] जैन दर्शन अपने अनेकान्तवाद के अनुसार यह मानते हैं कि ज्ञान का स्वरूपतः ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही हो सकते हैं अर्थात् एक ही ज्ञान एक दृष्टि से 'प्रमाण' और दूसरी दृष्टि से 'अप्रमाण' हो सकता है। उपर्युक्त चारों दर्शनों के सिद्धान्त तुलनात्मक रूप से निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं :—

न्याय-वैशेषिक— प्रामाण्यम् , अप्रामाण्यं परतः।
पूर्वमीमांसा— प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं परतः।
बौद्ध— अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परतः।
जैन— प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं स्वतः।

ज्ञान की यथार्थता के प्रश्न के साथ ही भ्रम के विषय में प्रत्येक भारतीय दर्शन का अपना अलग सिद्धान्त है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जब हमें शुक्ति (सीपी) में रजत (चांदी) का भ्रम होता है तो यह 'विपरीत-ज्ञान' है। इसको 'विपरीतख्याति' या 'अन्यथाख्याति' कहते हैं। नैयायिकों के लिये यह स्वाभाविक है कि वे विपरीतख्याति को मानें क्योंकि उनके अनुसार यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के ज्ञान हो सकते हैं। परन्तु मीमांसक प्रभाकर, जो ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानता है, के अनुसार ज्ञान के अयथार्थ होने का प्रश्न ही नहीं होता, इसलिये उसके अनुसार कभी भी विपरीतख्याति नहीं हो सकती। फिर भ्रम किस प्रकार होता है? इसका उत्तर उसने अख्यातिवाद के द्वारा दिया है जिसका निरूपण (प्रथम भाग, परिच्छेद २५ : मीमांसक के ज्ञान सिद्धान्त) किया जा चुका है, और वहीं न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के साथ उसकी तुलना भी की गई है।

१६— चार प्रकार के प्रमाण

ज्ञान के साथ प्रमाण कितने प्रकार के हैं इस विषय में भी प्रत्येक

---

1 श्चेरबात्स्की : बुद्धिस्ट लॉजिक, जिल्द १, पृ० ४६

भारतीय दर्शन का अपना अलग-अलग मत है। उन मतों को संक्षेपतः निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है :—

चार्वाक	प्रत्यक्ष	(एक प्रमाण)
बौद्ध और वैशेषिक	प्रत्यक्ष और अनुमान	(दो प्रमाण)
सांख्य	उपर्युक्त दोनों तथा शब्द	(तीन प्रमाण)
न्याय	उपर्युक्त तीनों और उपमान	(चार प्रमाण)
प्रभाकर मीमांसा	उपर्युक्त चार और अर्थापत्ति	(पाँच प्रमाण)
कुमारिल मीमांसा	उपर्युक्त पांच तथा अभाव प्रमाण	(छै प्रमाण)
पौराणिक	उपर्युक्त छै तथा संभव और ऐतिह्य	(आठ प्रमाण)

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि इस विषय में न्याय और वैशेषिक में भी मतभेद था। वैशेषिक बौद्ध के समान ही केवल दो प्रमाण, प्रत्यक्ष और अनुमान मानता है परन्तु न्याय वे दोनों तथा उपमान और शब्द, इस प्रकार चार प्रमाण मानता है। सम्मिलित न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में चार प्रमाण माने गये क्योंकि सम्मिलित सम्प्रदाय में जहाँ पदार्थों की दार्शनिक प्रक्रिया वैशेषिक से ली गई, वहाँ प्रामाण्यवाद न्याय का माना गया। एक और बात भी ध्यान देने योग्य है, प्राचीन काल में बौद्धों के समान ही न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में भी 'प्रमाण' (अर्थात् ज्ञान के साधन) और 'प्रमिति' (अर्थात् प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान) में कोई अन्तर नहीं किया गया था[1], परन्तु बाद में न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में उन दोनों में बड़े आग्रहपूर्वक अन्तर किया गया। 'प्रमा' या 'प्रमिति' ज्ञान का नाम है और 'प्रमाण' उस ज्ञान का साधन है[2]। चारों प्रमाणों में से

---

1 *यदि न्याय-सूत्र के प्रत्यक्ष के लक्षण को देखा जाय (जिसमें कहा गया है कि 'इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है') तो वह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमा (प्रत्यक्ष ज्ञान) दोनों का ही है।*

2 *प्रमाण शब्द 'करण' (साधन) अर्थ वाले 'ल्युट्' प्रत्यय से बनता है अर्थात् 'प्रमीयते अनेन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिससे प्रमा या प्रमिति*

प्रत्यक्ष शब्द प्रमाण और प्रमिति दोनों के लिये ही आता है परन्तु शेष तीनों के विषय में प्रमाणों का नाम अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण और प्रमिति के लिये क्रमशः अनुमिति, उपमिति और शाब्दी प्रमा ये शब्द आते हैं।

इन चारों प्रमाणों में से प्रत्यक्ष का दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तों से, विशेषकर बाह्यार्थवाद (realism) की स्थापना से, विशेष सम्बन्ध है; इसलिये उसको कुछ अधिक विशद रूप में आगे दिखाया जायगा। शेष तीन प्रमाणों का वर्णन संक्षेपतः यहाँ किया जाता है।

<u>*अनुमान*</u> : पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का ज्ञान होता है, यह अनुमान प्रमाण से होने वाली अनुमिति का प्रसिद्ध दृष्टान्त है। पर्वत में धूम को देखने पर हमको स्मरण होता है कि धूम और वह्नि का नियतसाहचर्य (व्याप्ति) है, अर्थात् जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि होती है। इस व्याप्ति के स्मरण के बाद हम इस व्याप्ति से विशिष्ट (qualified) धूम को इस प्रकार देखते हैं कि वह्नि के साथ व्याप्ति रखने वाला धूम इस पर्वत में है (वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः)। इस प्रकार व्याप्ति-विशिष्ट धूम के ज्ञान को ही '*परामर्श*' कहते हैं और परामर्श का नाम ही अनुमान है। उपर्युक्त प्रकार के परामर्श अर्थात् अनुमान से 'पर्वत में वह्नि है' इस प्रकार की अनुमिति हो जाती है। उक्त अनुमान को '*स्वार्थानुमान*' कहते हैं अर्थात् जो अनुमान अपने लिये हो। परन्तु जो अनुमान दूसरों के लिये किया जाय उसे '*परार्थानुमान*' कहते हैं और उसमें निम्न प्रकार के पाँच वाक्य बोले जाते हैं, जिन्हें अनुमान के पाँच अवयव (पञ्चावयव) कहते हैं :—

(i) प्रतिज्ञा— पर्वत वह्नि वाला है,

(ii) हेतु— धूम वाला होने से,

हो वह प्रमाण है। इस प्रकार 'प्रमाण' साधन है और 'प्रमिति' उसका फल है।

(iii) उदाहरण— जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है जैसे रसोईघर में,

(iv) उपनय— यह पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है,

(v) निगमन— इसलिये यह पर्वत वह्नि वाला है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र (Logic) में अनुमान के अवयव निम्न तीन प्रकार से तीन वाक्य होते हैं :—

(i) मेजर प्रेमिस (major premise) सब मनुष्य मरणधर्मा हैं,

(ii) माइनर प्रेमिस (minor premise) सुकरात भी मनुष्य है,

(iii) परिणाम (conclusion) इसलिए, सुकरात भी मरणधर्मा है।

ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र (Logic) के तीन वाक्य न्याय-पञ्चावयव-वाक्य के पिछले तीन अवयवों, अर्थात् तीसरे, चौथे, पाँचवे अवयव-वाक्यों से मिलते जुलते हैं।

उपमान : जब एक मनुष्य, जिसने नीलगाय कभी नहीं देखी, जंगल में रहने वाले मनुष्य से सुनता है कि गाय के सदृश नीलगाय होती है, और फिर वह जंगल में जाकर गाय के सदृश एक पशु को देखता है और उसको ज्ञान होता है कि इसी का नाम नीलगाय है, तो इसी ज्ञान को उपमिति कहते हैं। उपमिति का स्वरूप है 'संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध-प्रतिपत्ति' अर्थात् संज्ञा 'नीलगाय' शब्द और संज्ञी 'जंगल में देखा हुआ वह पशु', 'इन दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति' होना ही उपमिति है। और उपमान प्रमाण का स्वरूप है, 'जंगल में गाय के सदृश पशु को देखना, जिसके साथ जंगल में रहने वाले आदमी के इस वाक्य का स्मरण भी हो रहा हो कि नीलगाय गाय के सदृश होती है।'

शब्द प्रमाण : जब हम किसी प्रामाणिक आप्त पुरुष से कोई बात सुनते हैं, और यदि वह पुरुष वस्तुतः प्रामाणिक है, तो उसका वाक्य अवश्य यथार्थ होगा और उससे हमें यथार्थानुभव होगा, जिसे शाब्दी प्रमा या प्रमिति कहते हैं और आप्त पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह तीनों प्रमाण दर्शनशास्त्र से

विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। इनमें से अनुमान और उपमान तर्कशास्त्र (Logic) से सम्बन्ध रखते हैं और शब्द प्रमाण वाक्यविज्ञान से। इसलिये इन प्रमाणों का निरूपण यहाँ संक्षेपतः किया गया है।

१७— प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष का लक्षण गोतम ने यह किया था 'जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो, जिस ज्ञान की उत्पत्ति में शब्द का उपयोग न हो तथा जो भ्रमरहित और निश्चयात्मक हो'[1]। नवीन नैयायिकों ने इस लक्षण को संक्षेप में इतना ही कर दिया कि 'इन्द्रिय-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है'। गङ्गेश ने प्रत्यक्ष का एक नया ही लक्षण किया कि 'वह ज्ञान प्रत्यक्ष है जिसमें कोई दूसरा ज्ञान करण या साधन न हो' (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्)। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही केवल ऐसा ज्ञान है, जिसमें कोई दूसरा ज्ञान करण या साधन नहीं बनता, क्योंकि अनुमिति में व्याप्ति-ज्ञान, उपमिति में सादृश्य-ज्ञान, और शाब्द-बोध में पदज्ञान तथा स्मृति में अनुभव करण होता है। यह स्पष्ट ही है कि यह लक्षण प्रमाण और प्रमा में भेद किये बिना ही किये गये हैं और यदि भेद किया जाय तो इन्हें प्रत्यक्ष प्रमा का ही लक्षण कहना उचित होगा।

<u>सविकल्पक और निर्विकल्पक</u>: न्याय-वैशेषिक में प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना जाता है; (i) निर्विकल्पक और (ii) सविकल्पक। 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष माना जाता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में किसी वस्तु के विषय में कुछ कहा जाता है अर्थात् उद्देश्य के साथ विधेय को जोड़ा जाता है। 'यह घट है' इसका अर्थ यह है कि यह वस्तु 'घटत्व' जाति से युक्त है। यहाँ पर 'यह वस्तु' उद्देश्य है और 'घटत्व जाति' विधेय है। इस प्रकार यह ज्ञान 'विशेष्यविशेषणभावयुक्त' है, जिसमें 'यह वस्तु' (घट) विशेष्य है और 'घटत्व' विशेषण है। विशेष्य-विशेषणभावयुक्त ज्ञान को ही न्याय की भाषा में 'सप्रकारक' अर्थात्

---

1 "*इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्*" *न्याय सूत्र १-१-४*.

विशेषण सहित (प्रकार = विशेषण) ज्ञान कहते हैं। पाश्चात्य ज्ञानसिद्धान्त-शास्त्र (Epistemology) में भी ज्ञान को उद्देश्य और विधेय (Subject and Predicate) एवं वाक्य (Judgment) कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को एक प्रकार से 'प्रत्यक्षात्मक-ज्ञान-वाक्य' (perceptive judgment) कह सकते हैं। न्याय-वैशेषिक में जो ऊपर सविकल्पक का निरूपण किया गया है, वह भी लगभग पाश्चात्य ज्ञानसिद्धान्त के उपर्युक्त निरूपण के समान ही है।

न्याय-वैशेषिक में यह माना गया है कि सविकल्पिक ज्ञान से पूर्व निर्विकल्पक ज्ञान का होना आवश्यक है। सविकल्पक ज्ञान 'विशेष्य-विशेषण-ज्ञानपूर्वक' होता है, उससे पूर्व यह आवश्यक है कि हमको विशेष्य और विशेषण का ज्ञान हो जैसे 'यह दण्ड वाला पुरुष है' इस ज्ञान से पूर्व 'दण्ड' और 'पुरुष' का ज्ञान आवश्यक है, इसलिये 'यह घट है' इस ज्ञान से पूर्व 'घट' और 'घटत्व' का अलग अलग (विशकलित) ज्ञान आवश्यक है, जिसमें घट और घटत्व का अलग अलग ज्ञान हो, परन्तु उन दोनों ज्ञानों में विशेष्य-विशेषण-भाव न हो। उसी ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय होता है अर्थात् उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का हमें अनुव्यवसाय या मानसप्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक के अनुसार :—

(i) प्रथम हमें निर्विकल्पक ज्ञान होता है, जिसमें घट और घटत्व का अलग अलग 'विशेष्यविशेषणभावरहित' ज्ञान होता है।

(ii) इसके बाद 'यह घट है' इस प्रकार का सविकल्पक ज्ञान होता है, जिसमें 'घट' और 'घटत्व' में 'विशेष्यविशेषणभाव' होता है।

(iii) इसके बाद हमें सविकल्पक ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष या अनुव्यवसाय इस रूप में होता है कि 'मैं घट को जानता हूँ'।

<u>इन्द्रियों का वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्व</u> : न्याय-वैशेषिक के अनुसार हमें किसी वस्तु का ज्ञान साक्षात् रूप से होता है, जिसका अर्थ यह है कि हमारे और वस्तु के बीच में कोई ज्ञानसम्बन्धी आकार नहीं है, कि जिससे उस

वस्तु का ज्ञान होता हो। न्याय-वैशेषिक इस बात पर ज़ोर देता है कि हमारा ज्ञान निराकार है और ज्ञान में जो आकार भासता है, वह ज्ञान का नहीं है, अपितु वस्तु का ही है। जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है 'घटज्ञान और 'पटज्ञान' में कोई अन्तर नहीं है। जो कुछ अन्तर है, वह 'घट' और 'पट' वस्तुओं का ही है, जो हमारे ज्ञान में साक्षात् रूप से भास रही हैं। प्रत्यक्ष में वस्तु के साक्षात् होने की दृष्टि से ही न्याय-वैशेषिक यह मानता है कि वस्तुओं की कोई आकृति हमारी आत्मा तक नहीं पहुंचती प्रत्युत हमारी इन्द्रियाँ वस्तु-देश में पहुंच कर उस वस्तु को वहीं प्रकाशित करती हैं (इन्द्रियाणां वस्तु प्राप्य प्रकाशकारित्वनियमः)। जब मैं घट को देखता हूँ तो मेरे चक्षु की किरण घट-प्रदेश में पहुंचकर ही उसका साक्षात् करती हैं। इन्द्रियों के वस्तुओं को प्राप्त करके प्रकाशित करने के इस सिद्धान्त को लेकर न्याय का बौद्धों से बहुत विवाद चला, वे इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे।

छै प्रकार के सन्निकर्ष : उपर्युक्त सिद्धान्त से यह भी आ जाता है कि हमें जिस वस्तु का साक्षात् होता है, हमारी इन्द्रिय का उस वस्तु से सम्बन्ध होना चाहिये। न्याय-वैशेषिक के अनुसार केवल 'घट' द्रव्य का ही प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत घट में रहने वाले गुण, कर्म और घटत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। इतना ही नहीं प्रत्युत गुण और कर्म में रहने वाली 'गुणत्व' और 'कर्मत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। इसलिये इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सम्बन्ध (जिसे सन्निकर्ष कहते हैं) का स्वरूप स्पष्ट रूप से निश्चित किया गया। जब हमको चक्षु से घट का प्रत्यक्ष होता है तो घट और इन्द्रिय दोनों द्रव्य हैं, उनका सम्बन्ध या सन्निकर्ष 'संयोग रूप' होता है। परन्तु जब हमें घट के गुण, कर्म या घटत्व जाति का प्रत्यक्ष होता है, तो सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवाय' रूप होता है, क्योंकि इन्द्रिय-संयुक्त घट में गुण, कर्म और जाति का समवाय है। जब हमें घट में रहने वाले गुण, रूप या स्पर्श में रूपत्व और स्पर्शत्व जाति का प्रत्यक्ष होता है, तो वहाँ सन्निकर्ष का स्वरूप 'संयुक्तसमवेतसमवाय' माना

जाता है। क्योंकि इन्द्रिय-संयुक्त घट है, उसमें समवेत रूप और स्पर्श और उनमें 'रूपत्व' और 'स्पर्शत्व' जाति का समवाय है। परन्तु जब हमें श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है, तो कान के गोलक से अवच्छिन्न आकाश का ही नाम श्रोत्र है और आकाश में शब्द गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये वहाँ सन्निकर्ष का स्वरूप 'समवाय' है। और जब शब्द में 'शब्दत्व' जाति का प्रत्यक्ष होता है, तो वहाँ सन्निकर्ष का स्वरूप 'समवेतसमवाय' है, क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द है और उसमें शब्दत्व जाति का समवाय है। जब हम को घट में रूप के *समवाय* का या भूतल में घट के *अभाव* का प्रत्यक्ष होता है, तो समवाय और अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध क्या है? यह स्पष्ट है कि समवाय और अभाव अपने अधिकरण में संयोग या समवाय नामक सम्बन्ध से नहीं रहते प्रत्युत स्वरूप सम्बन्ध से ही रहते हैं। इसलिये समवाय को, या 'भूतल में घटाभाव' इस स्थल पर 'घटाभाव' को भूतल का विशेषण कहा जा सकता है। भूतल में घटाभाव के सन्निकर्ष को 'संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष' कह सकते हैं क्योंकि भूतल संयुक्त है और घटाभाव विशेषण है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी अभाव के अधिकरण का इन्द्रिय से जो सम्बन्ध हो, उसके साथ विशेषणता जोड़ने से अभाव का सन्निकर्ष आ जायेगा। इस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के निम्नलिखित छै सन्निकर्ष हुए :—

(i) संयोग, (ii) संयुक्तसमवाय, (iii) संयुक्तसमवेतसमवाय, (iv) समवाय, (v) समवेतसमवाय, और (vi) विशेषणता अर्थात् संयुक्तविशेषणता आदि।

१८— तीन प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष

ऊपर जिस प्रत्यक्ष का वर्णन किया है, वह लौकिक प्रत्यक्ष है, अर्थात् वह वस्तु से इन्द्रियों के सम्बन्ध होने के लौकिक नियम के अनुसार होता है। परन्तु लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त न्याय तीन प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष स्वीकार करता है और उसके लिए तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष भी उसे मानने पड़े हैं। ये तीन अलौकिक सन्निकर्ष

निम्न प्रकार के हैं :—

(i) सामान्यलक्षणसन्निकर्ष
(ii) ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष
(iii) योगजसन्निकर्ष

योगजसन्निकर्ष : इनमें से योगजसन्निकर्ष तो योगियों को ही होता है, जिसके द्वारा वे भूत और भविष्य के तथा दूर देश में स्थित पदार्थों का साक्षात् प्रत्यक्ष कर सकते हैं, ऐसा माना गया है। योगियों की शक्ति के विषय में हमारे देश में ऐसा दृढ विश्वास है कि न केवल वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय अपितु बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय भी 'योगी के प्रत्यक्ष' को मानते हैं।

सामान्यलक्षणसन्निकर्ष : शेष दो अलौकिक सन्निकर्ष प्रत्येक व्यक्ति को होते हैं। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में कुछ ऐसी बातें पाई जाती हैं कि जिनका प्रत्यक्ष से, अर्थात् साधारण लौकिक सन्निकर्ष से, समाधान नहीं हो सकता। उसके लिए शेष दोनों अलौकिक सन्निकर्ष माने गए हैं। धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होना लोकसिद्ध बात है। परन्तु उस अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि 'जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ वह्नि होती है' इस प्रकार का व्याप्ति का निश्चय हो। परन्तु बौद्ध ने यह दिखलाया कि ऐसा व्याप्ति-निश्चय तभी हो सकता है, जब कोई मनुष्य सब देश और सब कालों के सब धूमों को देखले कि वे वह्नि के साथ सहचरित हैं। परन्तु यह लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा तो सम्भव ही नहीं। इसलिए न्याय-वैशेषिक ने यह कल्पना की कि जब हम धूम को देखते हैं तो धूमत्व नामक 'सामान्य धर्म' के द्वारा सारे धूमों का प्रत्यक्ष होता है। अथवा जब हम घटयुक्त भूतल देखते हैं तो घट नामक 'सामान्य धर्म' के द्वारा सारे घट वाले भूतलों का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार एक सामान्य धर्म लेकर उसी के सामान्य रूप सन्निकर्ष बन जाने से उस सामान्य धर्म से युक्त सारे अधिकरणों की प्रतीति एक अलौकिक प्रत्यक्ष है और ऐसे स्थल पर वह 'सामान्य' एक अलौकिक सन्निकर्ष है। इसी को 'सामान्य-

लक्षणसन्निकर्ष' कहते हैं।

ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष : इसी प्रकार जब हम देवदत्त नामक व्यक्ति को देखते हैं और यह प्रत्यक्ष होता है कि 'यह वही देवदत्त है जिसको हमने पहिले देखा था', अथवा जब हम चन्दन का प्रत्यक्ष इस प्रकार करते हैं कि 'यह सुगन्धित चन्दन है', तो इन दोनों स्थलों पर 'पहिले देखना' अथवा 'सुगन्धित होना' प्रत्यक्ष का यह अंश साधारणतया स्मरणात्मक प्रतीत होता है। बौद्ध ने इस बात को बड़ी दृढता से प्रतिपादित किया कि प्रत्यक्ष का यह अंश वस्तुतः स्मरणात्मक है, इसलिये यह शुद्ध प्रत्यक्ष अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता। परन्तु नैयायिक इस बात को नहीं मान सकता, क्योंकि यदि उपर्युक्त ज्ञान स्मरणात्मक है, तो उस दशा में वे भूतकाल को विषय करेंगे और हमारे ज्ञान के दो अंश हो जायेंगे, एक स्मरणात्मक अर्थात् भूतकालविषयक और एक प्रत्यक्षात्मक अर्थात् वर्तमानकालविषयक। और दो अलग-अलग प्रकार के ज्ञानों के विषय रूप दो वस्तुयें अलग अलग होंगी और इस प्रकार एक ही वस्तु भूतकाल-विषयक और वर्तमानकालविषयक हो, यह बात न आ सकेगी और वस्तुओं की स्थिरता सिद्ध न हो सकेगी, अतएव बाह्यार्थवाद और वस्तुओं की स्थिरता सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि उपर्युक्त स्थलों पर स्मरणात्मक प्रतीत होने वाले अंशों को भी प्रत्यक्षात्मक ही माना जाये अर्थात् चन्दन के सुगन्ध का भी चाक्षुप प्रत्यक्ष स्वीकार किया जावे। परन्तु चक्षुः इन्द्रिय से सुगन्ध का तो कोई सन्निकर्ष हो ही नहीं सकता। अतएव अलौकिक 'ज्ञान-लक्षणसन्निकर्ष' स्वीकार किया गया, जिसके द्वारा सुगन्ध के ज्ञान को ही अलौकिक सन्निकर्ष मानकर सुगन्ध का अलौकिक प्रत्यक्ष माना गया। यही ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष को मानने का रहस्य है।

१९— ज्ञान का स्वरूप

दर्शनशास्त्र के आगे यह एक समस्या रही है कि 'ज्ञान का स्वरूप क्या है'? क्या ज्ञान स्वयं-प्रकाश है या ज्ञान की प्रतीति कराने के लिये किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है। बौद्ध दृढतापूर्वक स्थापित

करता है कि ज्ञान स्वयं-प्रकाश है और उसकी प्रतीति के लिये हमें किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, जिस प्रकार कि प्रकाश स्वयं-प्रकाश है और उसकी प्रतीति के लिये हमें किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। प्रभाकर भी बौद्ध के समान ही ज्ञान को स्वयं-प्रकाश मानता है। एक बात स्पष्ट है कि जब मैं एक घट को देखता हूँ, तो मेरे ज्ञान में एक ही वस्तु भासती है, चाहे उसे ज्ञान अथवा ज्ञान का आकार कहें और चाहे उसे बाह्य वस्तु घट कहें। यदि ज्ञान स्वयं-प्रकाश है और घट के प्रत्यक्ष के समय ज्ञान भास रहा है तो स्वभावतः घट वस्तु का अस्तित्व सन्दिग्ध हो जाता है, क्योंकि वहाँ दो वस्तु तो प्रतीत हो ही नहीं रहीं। वस्तुतः यही युक्ति 'विज्ञानवाद' का सबसे बड़ा आधार है (देखो भाग १ परिच्छेद २३)। बाह्यार्थवादी के लिये यह मानना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में घट साक्षात् रूप से भास रहा है न कि हमारा ज्ञान। इसलिये बाह्यार्थवादी तीनों ही दार्शनिक सम्प्रदाय, न्याय-वैशेषिक, कुमारिल और प्रभाकर यह मानते हैं कि हमारे ज्ञान में घट साक्षात् रूप से भास रहा है। यदि घट ही भास रहा है तो ज्ञान के भासने के विषय में इन तीनों का क्या उत्तर है? न्याय-वैशेषिक कहता है कि चाक्षुष ज्ञान में तो घट ही भासता है परन्तु चाक्षुष प्रत्यक्ष के अनन्तर हमको 'मानस प्रत्यक्ष' (जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं) होता है। उससे ज्ञान की प्रतीति होती है। कुमारिल ने तो कदाचित् बाह्य वस्तु की रक्षा की दृष्टि से ज्ञान का प्रत्यक्ष होना ही नहीं माना, प्रत्युत ज्ञान का अनुमान होना माना है (देखो भाग १ परिच्छेद २५ : मीमांसा का ज्ञान-सिद्धान्त)। प्रभाकर यह मानता है कि ज्ञान में घटरूप विषय साक्षात् भासता है; और साथ ही यह भी स्वीकार करता है कि ज्ञान स्वयं-प्रकाशमान है। प्रभाकर का सिद्धान्त यह है कि प्रत्यक्ष में तीन वस्तु भासती हैं:— (i) ज्ञान, (ii) ज्ञान का विषय अर्थात् बाह्य वस्तु, (iii) ज्ञाता; इसको प्रभाकर का 'त्रिपुटीप्रत्यक्ष सिद्धान्त' कहते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष के तीन अंश वाला सिद्धान्त। बाह्यार्थवादियों को छोड़कर अन्य

सभी दार्शनिक सम्प्रदाय, बौद्ध और वेदान्ती, यहाँ तक कि बाह्यार्थवाद को मानने वाले (परन्तु दृढतापूर्वक न मानने वाले) सांख्यवादी भी, ज्ञान को स्वयं-प्रकाशमान मानते हैं।

बाह्यार्थवाद को न मानने वाले बौद्ध और वेदान्ती ज्ञान को स्वयं-प्रकाशमान मानें, यह तो स्वाभाविक ही है; क्योंकि ज्ञान में भासने वाले बाह्य पदार्थों को ज्ञान का ही आकार मानने से 'विज्ञानवाद' की पुष्टि होती है और बाह्यार्थवाद का खण्डन होता है, परन्तु बाह्यार्थवादी सांख्य का भी वैसा मानना, कुछ आश्चर्यजनक है। परन्तु सांख्य के सिद्धान्त के विषय में यहाँ विचार नहीं करना है। यह हम दिखला ही चुके हैं कि सांख्य की निर्लेप ज्ञान, इच्छा आदि गुणों से शून्य पुरुष की कल्पना तथा परिणामवाद के रूप में सत्कार्यवाद ये दोनों एक प्रकार से न्याय-वैशेषिक के बाह्यार्थवाद और वेदान्त के ब्रह्मवाद के बीच की कड़ी है, (देखो भाग १, परिच्छेद २७)। परन्तु यहाँ तीनों बाह्यार्थवादी अर्थात् न्याय-वैशेषिक, कुमारिल और प्रभाकर के सिद्धान्तों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करना है। इनमें से प्रभाकर की स्थिति बाह्यार्थवाद की दृष्टि से दूषित प्रतीत होती है, क्योंकि हमारे एक अखण्ड रूप ज्ञान में एक ही वस्तु का भासना सम्भव है न कि तीन का। प्रभाकर ने वस्तुतः बाह्यार्थवाद और बौद्धों के ज्ञान के प्रकाशमान होने के सिद्धान्त का समन्वय किया। ज्ञान के स्वयं प्रकाशमान होने का सिद्धान्त प्रभाकर को इतना दृढ प्रतीत हुआ कि वह उसको न छोड़ सका और उसके प्रभाव में उसने बाह्यार्थवाद को भी संकट में डाल दिया। इस प्रकार यह समझ में आ सकता है कि क्यों भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् श्चेरबात्स्की ने प्रभाकर को 'बौद्ध की अवैध सन्तान' (a bastard son of Buddhism) कहा।[1]

दूसरी ओर कुमारिल ने बाह्यार्थवाद की रक्षा के लिये इतना साहस-पूर्ण सिद्धान्त स्थापित किया कि ज्ञान को स्वयं प्रकाशमान मानना तो दूर

---

1 श्चेरबात्स्की : बुद्धिस्ट लॉजिक, जिल्द 1, पृ० 51

की बात, उसने नैयायिक के समान ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष भी न माना, प्रत्युत ज्ञान का अनुमान माना। यहाँ तक कि उसने यह सिद्धान्त मानकर कि बाह्य वस्तु में ज्ञान के द्वारा 'ज्ञातता' 'प्राकट्य' (manifestedness) नामक नया धर्म उत्पन्न हो जाता है, ज्ञान का भी स्वरूप किसी अंश तक बाह्य वस्तुओं को ही सौंप दिया। बाह्यार्थवाद की रक्षा की निष्ठा में, इस प्रकार, कुमारिल न्याय-वैशेषिक को भी पीछे छोड़ देता है और इसी लिये परम नैयायिक जयन्त को ताना देना पड़ा कि उसने बौद्धों के डर से ज्ञान के प्रत्यक्ष होने के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया[1] (देखो भाग १ परिच्छेद २५ : मीमांसा का ज्ञानसिद्धान्त)।

इस विषय में न्याय-वैशेषिक मध्यम मार्ग के स्वर्ण सिद्धान्त को अपनाता है, जिसके अनुसार न तो प्रभाकर के समान यही है कि ज्ञान स्वयं प्रकाशमान हो, और न कुमारिल के समान यही है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष भी न होता हो, प्रत्युत वह मानता है कि 'यह घट है' इस चाक्षुप प्रत्यक्ष में तो ज्ञान नहीं भासता, किन्तु इस ज्ञान के बाद छठी अन्तरिन्द्रिय मनस् के द्वारा मानस प्रत्यक्ष होता है, जिसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं, उसमें ज्ञान भासता है। इस प्रकार ज्ञान यद्यपि उत्पन्न होने के साथ ही स्वयं प्रकाशमान नहीं, तथापि अगले क्षण में उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। साथ ही 'यह घट है' इस चाक्षुप प्रत्यक्ष में ज्ञान के न भासने से बाह्य घट का साक्षात् रूप से अनुभव सिद्ध हो जाता है, और इस प्रकार बाह्यार्थवाद का आधार दृढ बना रहता है। वस्तुतः ज्ञान के स्वरूप के विषय में तीनों ही बाह्यार्थवादी दार्शनिक सम्प्रदायों के मतों का सूक्ष्म आलोचनात्मक मनन बहुत रोचक है।

———

1 न्यायमञ्जरी (चौखम्बा) पृ० १६

नामानुक्रमणी

Index of English Words

शुद्धिपत्र

कृपया पुस्तक प्रारम्भ करने से पूर्व ही अशुद्धियों को शुद्ध करलें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२०	दृढ़ता	दृढता
६	१८	दृढ़ता	दृढता
८	१४	है	हैं
१०	२१	है।	है,
१०	२२	देना,	देना।
१५	१५	श्चेरवात्की	श्चेरबात्स्की
१६	२	'थेरावादियों'	थेरवादियों
१६	१५	हरिप्रसाद	हरप्रसाद
१६	१६	छैः	छै
१८	१२	थेरावाद	थेरवाद
१९	१८	थेरावादी	थेरवादी
२०	२	थेरावादियों	थेरवादियों
२१	१६	पातञ्जलि	पतञ्जलि
२४	२	ऊपर	नीचे
२५	४	थेरावाद	थेरवाद
२६	१०	दो	दो,
२९	१३	था	था।
२९	१५	loving	love
२९	२१	को	की
३३	१८	मतो	मतों
३४	५	रूप हैं	रूप है
३४	१७	सिद्वान्त	सिद्धान्त
३४	२३	सिंधी	सिंघी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	२३	ग्रन्थभाला	ग्रन्थमाला
३५	६	अवक्ताव्यश्च	अवक्तव्यश्च
३५	६	वस्तु है, नही है	वस्तु नहीं है
३५	१६	थेरावाद	थेरवाद
३५	२१	'त्रिपिटक,	'त्रिपिटक'
३६	६	थेरावादी	थेरवादी
३६	६	थेरा	थेर
३६	६	संस्कत	संस्कृत
३६	७	जिसरा	जिसका
३६	८	थेरा	थेर
३७	२, ८, ६ १३, १४, १८, २२, २४	थेरावाद	थेरवाद
३७	८	विश्व कोप	विश्वकोप
३७	१३	'विशुद्धमग्ग'	'विशुद्धिमग्ग'
३८	५, ७	थेरावाद	थेरवाद
३८	११	वृत्त	वृत्त
३८	१३	का	के
३६	५	विना	विना
४०	१४, १७, २०	थेरावादियों	थेरवादियों
४१	१२	थेरावादियों	थेरवादियों
४१	२१	थेरावादी	थेरवादी
४७	३	रोजेनवर्ग	रोज़ेनबर्ग
४७	१४	(cinematographie)	(cinematographic)
४६	१३, १४	दिङ्नाग	दिङ्नाग
५०	१५	है	है कि
५०	१६	थेरावादियों	थेरवादियों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१	११	हुआ	हुआ,
५२	२४	Dialect	Dialectic
५३	१८	थेरावाद्	थेरवाद्
५८	२३	बिना	विना
५८	२७	दिड्नाग	दिङ्नाग
६५	४	अंग्रेज़ी का	अंग्रेज़ी
६७	३	बिना	विना
६७	४	ज्ञान के	ज्ञान द्वारा
६७	४	बिना	विना
७२	१६	था,	था (देखो परि. १६)।
७२	१६	चुका है।	चुका है कि
८१	६, १७, २३, २६	साँख्य	सांख्य
८१	२३	सिद्धात	सिद्धान्त
८२	११	साँख्य	सांख्य
८४	६	बिना	विना
८५	७	पृथक	पृथक्
८६	२३	विंभर्त्ति	बिंभत्ति
८७	१५	विज्ञानभिक्ष	विज्ञानभिक्षु
८८	७	प्रवृति	प्रवृत्ति
९१	४	संस्कृत	संस्कृति
११६	१६	साहारा	सहारा
११६	१९, २६	दासगुप्ता	दासगुप्त
११७	२१	दिङ्गनाग	दिङ्नाग
११८	२०	भरद्वाज	भारद्वाज
११८	२७	प०	पृ०
१२३	१९	समुच्च्य	समुच्चय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२३	२०	वहुत	बहुत
१२४	१५	कन्दली	प्रशस्तपाद
१२८	१	का का	का
१४१	१३	सिद्धांत	सिद्धान्त
१४३	१६	है	हैं
१४५	२	ऐसीं	ऐसी
१४५	१६	के	में
१५४	२५	प्रशरतपाद	प्रशस्तपाद
१५७	२६	सत्कार्यवाद	असत्कार्यवाद
१५६	८	है।	है,
१५६	२७	रपष्ट	स्पष्ट
१६३	७	ंख्या	संख्या
१७०	२३	जाग्रत	जाग्रत्
१७४	१	शब्द	शब्द,
१७४	१	है	है ;
१७५	५	निम्न तीन	निम्न
१७७	८	सविकल्पिक	सविकल्पक
१७६	५	रहता है।	रहता है

———